

कुछ पारिभाषिक शब्द

(१) 'लेश्या'

१—लेश्या के (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं ।

(क) द्रव्यलेश्या, पुद्गल-विशेषात्मक है । इसके स्वरूप के संबन्ध में मुख्यतया तीन मत हैं—(१) कर्मवर्गणा-निष्यन्द, (२) कर्म-निष्यन्द और (३) योग-परिणाम ।

पहले मत का यह मानना है कि लेश्या द्रव्य, कर्म-वर्गणा से बने हुए हैं; फिर भी वे आठ कर्म से भिन्न ही हैं, जैसा कि कर्मणशरीर । यह मत उत्तरा-ध्ययन, अ० ३४ की टीका, पृ० ६५० पर उल्लिखित है ।

दूसरे मत का आशय यह है कि लेश्या-द्रव्य, कर्म-निष्यन्दरूप (बध्यमान कर्म-प्रवाहरूप) है । चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है । यह मत उक्त पृष्ठ पर ही निर्दिष्ट है, जिसको टीकाकार वादिवैताल श्री शान्तिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' कहकर लिखा है ।

तीसरा मत श्री हरिभद्रसूरि आदि का है । इस मत का आशय श्री मलयगिरि-जी ने पन्नवर्णा पद १७ की टीका, पृ० ३३० पर स्पष्ट बतलाया है । वे लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । उपाध्याय श्रीविनयविजयजी ने अपने आगम दोहनरूप लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक २८५ में इस मत को ही ग्राह्य ठहराया है ।

(ख) भावलेश्या, आत्मा का परिणाम-विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है । संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या, असंख्य प्रकार की है तथापि संक्षेप में छह विभाग करके शास्त्र में उसका स्वरूप दिखाया है । देखिये, चौथा कर्मग्रन्थ, गा० १३ वीं । छह भेदों का स्वरूप समझने के लिए शास्त्र में नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गए हैं—

(१)—कोई छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे, इतने में जम्बू वृक्ष को देख उनमें से एक पुरुष बोला—'श्रीजिए,

जम्बूवृक्ष तो आ गया । अब फलों के लिए ऊपर चढ़ने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखावाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है ।'

यह सुनकर दूसरे ने कहा—'वृक्ष काटने से क्या लाभ ? केवल शाखाओं को काट दो ।'

तीसरे पुरुष ने कहा—'यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओं के काट लेने से भी तो काम निकाला जा सकता है ?'

चौथे ने कहा—'शाखाएँ भी क्यों काटना ? फलों के गुच्छों को तोड़ लीजिए ।'

पाँचवाँ बोला—'गुच्छों से क्या प्रयोजन ? उनमें से कुछ फलों को ही ले लेना अच्छा है ।'

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—'ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हमलोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुए हैं, क्या उन्हीं से अपना प्रयोजन-सिद्ध नहीं हो सकता है ?'

(२)— कोई छह पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे । रास्ते में किसी गाँव को पाकर उनमें से एक बोला—'इस गाँव को तहस-नहस कर दो—मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो ।'

यह सुनकर दूसरा बोला—'पशु, पक्षी आदि को क्यों मारना ? केवल विरोध करने वाले मनुष्यों ही को मारो ।'

तीसरे ने कहा—'बेचारी स्त्रियों की हत्या क्यों करना ? पुरुषों को मार दो ।'

चौथे ने कहा—'सब पुरुषों को नहीं ; जो सशस्त्र हों, उन्हीं को मारो ।'

पाँचवें ने कहा—'जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारना ।'

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—'किसी को मारने से क्या लाभ ? जिस प्रकार से धन अपहरण किया जा सके, उस प्रकार से उसे उठा लो और किसी को मारो मत । एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकों को मारना यह ठीक नहीं ।'

इन दो दृष्टान्तों से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है । प्रत्येक दृष्टान्त के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाए जाते हैं । उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है । प्रथम पुरुष के परिणाम को 'कृष्णलेश्या', दूसरे के परिणाम को 'नीललेश्या', इस प्रकार क्रम से छठे पुरुष के परिणाम को 'शुक्ललेश्या' समझना चाहिए ।
—आवश्यक हारिभद्री वृत्ति पृ० २५५ तथा लोकप्रकाश, स० ३, श्लो० ३६३-३८० ।

लेश्या-द्रव्य के स्वरूप संबन्धी उक्त तीनों मत के अनुसार तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त भाव-लेश्या का सद्भाव समझना चाहिए। यह सिद्धान्त गोम्मटसार-जीव काण्ड को भी मान्य है; क्योंकि उसमें योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। यथा—

‘अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहतियलेस्सा दु देसविरदतिये
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३१॥’

सर्वार्थसिद्धि में और गोम्मटसार के स्थानान्तर में कषायोदय-अनुरञ्जित योग-प्रवृत्ति को ‘लेश्या’ कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या का होना पाया जाता है, पर यह कथन अपेक्षा-कृत होने के कारण पूर्व कथन से विरुद्ध नहीं है। पूर्व कथन में केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं। और इस कथन में स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धों के निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूप से विवक्षित हैं; केवल प्रकृति-प्रदेश बन्ध के निमित्तभूत परिणाम नहीं। यथा—

‘भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदधिकीत्यु-
च्यते ।’
—सर्वार्थसिद्धि-अध्याय २, सूत्र ६।

‘जोगपड्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्धिटं ॥४८६॥’

—जीवकाण्ड ।

द्रव्यलेश्या के वर्ण-गन्ध आदि का विचार तथा भावलेश्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराध्ययन, अ० ३४ में है। इसके लिए प्रज्ञापना-लेश्यापद, आवश्यक, लोकप्रकाश आदि आकर ग्रंथ श्वेताम्बर-साहित्य में है। उक्त दो दृष्टान्तों में से पहला दृष्टान्त, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है। लेश्या की कुछ विशेष बातें जानने के लिए जीवकाण्ड का लेश्या मार्गणाधिकार (गा० ४८८-५५५) देखने योग्य है।

जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के तर-तम-भाव का सूचक, लेश्या का विचार, जैसा जैन शास्त्र में है; कुछ उसी के समान, छह जातियों का विभाग, मङ्गलीगोसाल पुत्र के मत में है, जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण नील आदि छह वर्णों के आधार पर किया गया है। इसका वर्णन, ‘दीघनिकाय-सामञ्जसफलसुत्त’ में है।

‘महाभारत के १२, २८६ में भी छह ‘जीव-वर्ण’ दिये हैं, जो उक्त विचार से कुछ मिलते-जुलते हैं।

‘पातञ्जलयोगदर्शन’ के ४,७ में भी ऐसी कल्पना है; क्योंकि उसमें कर्म के

चार विभाग करके जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया है। इसके लिए देखिए, दीघनिकाय का मराठी-भाषान्तर, पृ० ५६।

(२) 'पञ्चेन्द्रिय'

जीव के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधारपर; क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवों को पाँचों होती हैं। यथा—

‘अहवा पडुच्च लद्धिदिशं पि पंचेदिया सव्वे ॥२६६६॥’

—विशेषावश्यक।

अर्थात् लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव पञ्चेन्द्रिय हैं।

‘पंचेदिउ व्व बउल्लो, नरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ ।’ इत्यादि

विशेषावश्यक—३००१

अर्थात् सब विषय का ज्ञान होने की योग्यता के कारण अकुल-वृत्त मनुष्य की तरह पाँच इन्द्रियोयाला है।

यह ठीक है कि द्वीन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि की भावेन्द्रिय से उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततर ही होती है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिनकी द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच, पूरी नहीं हैं, उन्हें भी भावेन्द्रियाँ तो सभी होती ही हैं। यह बात आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित है। डा० जगदीशचन्द्र बसु की खोजने वनस्पति में स्मरणशक्ति का अस्तित्व सिद्ध किया है। स्मरण, जो कि मानस-शक्ति का कार्य है, वह यदि एकेन्द्रिय में पाया जाता है तो फिर उममें अन्य इन्द्रियाँ, जो कि मन से नीचे की श्रेणी की मानी जाती हैं, उनके होने में कोई बाधा नहीं। इन्द्रिय के संबन्ध में प्राचीन काल में विशेष-दर्शा महात्माओं ने बहुत विचार किया है, जो अनेक जैन-ग्रंथों में उपलब्ध है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं - (१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप। द्रव्येन्द्रिय, पुद्गल-जन्य होने से जडरूप है; पर भावेन्द्रिय, ज्ञानरूप है, क्योंकि वह चेतना-शक्ति का पर्याय है।

(१) द्रव्येन्द्रिय, अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय-जन्य है। इसके दो भेद हैं:—(क) निर्वृत्ति और (ख) उपकरण।

(क) इन्द्रिय के आकार का नाम 'निर्वृत्ति' है। निर्वृत्ति के भी (१) बाह्य

और (२) आभ्यन्तर, ये दो भेद हैं। (१) इन्द्रिय के बाह्य आकार को 'बाह्य-निर्वृत्ति' कहते हैं और (२) भीतरी आकार को 'आभ्यन्तरनिर्वृत्ति'। बाह्य भाग तलवार के समान है और आभ्यन्तर भाग तलवार की तेज धार के समान, जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओं का बना हुआ होता है। आभ्यन्तरनिर्वृत्ति का यह पुद्गलमय स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र-इन्द्रियपद की टीक पृ० २६४ के अनुसार है। आचारङ्गवृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय बतलाया है।

आकार के संबन्ध में यह बात जाननी चाहिए कि त्वचा की आकृति अनेक प्रकार की होती है, पर उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकार में जुदाई नहीं है। किसी प्राणी की त्वचा का जैसा बाह्य आकार होता है, वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है। परन्तु अन्य इन्द्रियों के विषय में ऐसा नहीं है—त्वचा को छोड़ अन्य सब इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकार से नहीं मिलते। सब जाति के प्राणियों की सजातीय इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार, एक तरह के माने हुए हैं। जैसे—कान का आभ्यन्तर आकार, कदम्ब-पुष्प-जैसा, आँख के मसूर के दाना-जैसा, नाक का अतिमुक्तक के फूल-जैसा और जीभका छुरा-जैसा है। किन्तु बाह्य आकार, सब जाति में भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। उदाहरणार्थः—मनुष्य हाथी, घोड़ा, बैल, गिल्ली, चूहा आदि के कान, आँख, नाक, जीभ को देखिए।

(ख) आभ्यन्तरनिर्वृत्ति की विषय-ग्रहण-शक्ति को 'उपकरणेन्द्रिय' कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकार की हैं—(१) लब्धिरूप और (२) उपयोगरूप।

(१) मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम को—चेतन-शक्ति की योग्यता-विशेष को—'लब्धिरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं। (२) इस लब्धिरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण में जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोगरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं।

इस विषय को विस्तारपूर्वक जानने के लिए प्रज्ञापना-पद १५, पृ० २६३; तत्त्वार्थ-अध्याय २, सू० १७-१८ तथा वृत्ति; विशेषाव०, गा० २६६३-३००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३; श्लोक ४६४ से आगे देखना चाहिए।

(३) 'संज्ञा'

संज्ञा का मतलब आभोग (मानसिक-क्रिया-विशेष) से है। इसके (क) ज्ञान और (ख) अनुभव, ये दो भेद हैं।

(क) मति, श्रुत आदि पाँच प्रकार का ज्ञान 'ज्ञानसंज्ञा' है।

(ख) अनुभवसंज्ञा के (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) श्रोत्र, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा और (१६) शोक, ये सोलह भेद हैं। आचार्यङ्ग-निर्युक्ति, गा० ३८ - ३९ में तो अनुभवसंज्ञा के ये सोलह भेद किये गए हैं। लेकिन भगवती-शतक ७, उद्देश्य ८ में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमें से पहले दस ही भेद निर्दिष्ट हैं।

ये संज्ञाएँ सब जीवों में न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती हैं; इसलिए ये संज्ञि-असंज्ञि-व्यवहार की नियामक नहीं हैं। शास्त्र में संज्ञि-असंज्ञि का भेद है, सो अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा से। एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में चैतन्य का विकास क्रमशः अधिकाधिक है। इस विकास के तर-तम-भाव को समझाने के लिए शास्त्र में इसके स्थूल रीति पर चार विभाग किये गए हैं।

(१) पहले विभाग में ज्ञान का अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है। यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकास से युक्त जीव, मूर्च्छित की तरह चेश्चरहित होते हैं। इस अव्यक्ततर चैतन्य को 'श्रोत्रसंज्ञा' कही गई है। एकेन्द्रिय जीव, श्रोत्रसंज्ञावाले ही हैं।

(२) दूसरे विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का—सुदीर्घ भूतकाल का नहीं—स्मरण किया जाता है और जिससे इष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयों से निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-कारी ज्ञान को 'हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीव, हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(३) तीसरे विभाग में इतना विकास विवक्षित है जिससे सुदीर्घ भूतकाल में अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और स्मरण द्वारा वर्तमानकाल के कर्तव्यों का निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को 'दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा' कहा है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च, दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभाग में विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यक्त्वियों के सिवाय अन्य जीवों में इसका संभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञान को 'दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा' कहा है।

शास्त्र में जहाँ-कहीं संज्ञि-असंज्ञि का उल्लेख है, वहाँ सब जगह असंज्ञि का मतलब श्रोत्रसंज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीवों से है। तथा संज्ञि का मतलब सब जगह दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा वालों से है।

इस विषय का विशेष विचार तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २५ वृत्ति, नन्दी सू० ३६, विशेषावश्यक गा० ५०४-५२६ और लोकप्र०, स० ३, श्लो० ४४२-४६३ में है।

संज्ञी-असंज्ञी के व्यवहार के विषय में दिगम्बर-सम्प्रदाय में श्वेताम्बर को अपेक्षा थोड़ा सा भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यञ्चों को संज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी तथा असंज्ञी माना है। इसी तरह समूर्च्छिग-तिर्यञ्च को सिर्फ असंज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है। (जीव०, गा० ७६) इसके सिवाय यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादीपदेशिकी आदि जो तीन संज्ञाएँ वर्णित हैं, उनका विचार दिगम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

(४) 'अपर्याप्त'

(क) अपर्याप्त के दो प्रकार हैं:—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त वैसे ही (ख) पर्याप्त के भी दो भेद हैं:—(१) लब्धि-पर्याप्त और (२) करण-पर्याप्त।

(क) १—जो जीव, अपर्याप्तनामकर्म के उदय के कारण ऐसी शक्तिवाले हों, जिससे कि स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त' हैं।

२—परन्तु करण-अपर्याप्त के विषय में यह बात नहीं, वे पर्याप्तनामकर्म के भी उदयवाले होते हैं। अर्थात् चाहे पर्याप्तनामकर्म का उदय हो या अपर्याप्तनामकर्म का, पर जब तक करणों की (शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की) समाप्ति न हो, तब तक जीव 'करण अपर्याप्त' कहे जाते हैं।

(ख) १—जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त' हैं।

२—करण-पर्याप्तों के लिए यह नियम नहीं कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करके ही मरते हैं। जो लब्धि-अपर्याप्त हैं, वे भी करण-पर्याप्त होते ही हैं; क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकने के बाद कम से कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है, तभी से जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं। यह तो नियम ही है कि लब्धि अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना मरते नहीं। इस नियम के संबन्ध में श्रीमलयगिरिजी ने नन्दीसूत्र की टीका, पृ० १०५ में यह लिखा है—

‘यस्मादागामिभवायुर्वध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः तच्चाहार-शरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति’

अर्थात् सभी प्राणी अगले भव की आयु को बाँधकर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं मरते। आयु तभी बाँधी जा सकती है, जब कि आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों।

इसी बात का खुलासा श्रीविनयविजयजी ने लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लो० ३१ में इस प्रकार किया है—जो जीव लब्धि-अपर्याप्त है, वह भी पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बाँधता है। अन्तर्मुहूर्त तक आयु-बन्ध करके फिर उसका जघन्य अन्नाधाकाल, जो अन्तर्मुहूर्त का माना गया है, उसे वह बिताता है; उसके बाद मर कर वह गत्यन्तर में जा सकता है। जो अग्रिम आयु को नहीं बाँधता और उसके अन्नाधाकाल को पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।

दिगम्बर-साहित्य में करण-अपर्याप्त के बदले ‘निर्वृत्ति-अपर्याप्तक’ शब्द मिलता है। अर्थ में भी थोड़ा सा फर्क है। ‘निर्वृत्ति’ शब्द का अर्थ शरीर ही किया हुआ है। अतएव शरीरपर्याप्तिपूर्णा न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य, जीव को निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहता है। शरीर-पर्याप्तिपूर्णा होने के बाद वह, निर्वृत्ति-अपर्याप्त का व्यवहार करने की सम्मति नहीं देता। यथा—

‘पञ्चत्तस्स य उदये, णियणियपञ्चत्तिणिट्ठिदो होदि ।

जाव ‘सरीरमपुण्णं’ णिवत्तिअपुण्णंगो ताव ॥१२०॥’

—जीविकाण्ड ।

सारांश यह कि दिगम्बर-साहित्य में पर्याप्त नाम कर्म का उदय वाला ही शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न होने तक ‘निर्वृत्ति-अपर्याप्त’ शब्द से अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्य में ‘करण’ शब्द का ‘शरीर इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ’—इतना अर्थ किया हुआ मिलता है। यथा—

‘करणानि शरीराच्चादीनि ।’

—लोकप्र०, स० ३, श्लो० १० ।

अतएव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के अनुसार जिसने शरीर-पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी ‘करण-पर्याप्त’ कहा जा सकता है। अर्थात् शरीर रूप करण पूर्ण करने से ‘करण-पर्याप्त’ और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से ‘करण-अपर्याप्त’ कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय

सम्प्रदाय की दृष्टि से शरीरपर्याप्ति से लेकर मनःपर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर 'करण-पर्याप्त' और उचरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से 'करण-अपर्याप्त' कह सकते हैं। परन्तु जब जीव, स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर ले, तब उसे 'करण-अपर्याप्त' नहीं कह सकते।

पितृ काय स्वरूप--

पर्याप्ति, वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव, आहार-श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहार आदि रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। अर्थात् जिस प्रकार पेट के भीतर के भाग में वर्तमान पुद्गलों में एक तरह की शक्ति होती है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न-भिन्न रूप में बदल जाता है; इसी प्रकार जन्म-स्थान प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलों से ऐसी शक्ति बन जाती है, जो कि आहार आदि पुद्गलों को खल-रस आदि रूप में बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है। पर्याप्तिजनक पुद्गलों में से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो कि जन्मस्थान में आये हुए जीव के द्वारा प्रथम समय में ही ग्रहण किये जाकर, पूर्व-गृहीत पुद्गलों के संसर्ग से तद्रूप बने हुए होते हैं।

कार्य-भेद से पर्याप्ति के छह भेद हैं— (१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनः-पर्याप्ति। इनकी व्याख्या, पहले कर्मग्रन्थ की ४६वीं गाथा के भावार्थ में पृ० ६७वें से देख लेनी चाहिए।

इन छह पर्याप्तियों में से पहली चार पर्याप्तियों के अधिकारी एकेन्द्रिय ही हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अस्तंजि-पञ्चेन्द्रिय जीव, मनःपर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव छहों पर्याप्तियों के अधिकारी हैं। इस विषय की गाथा, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण-कृत बृहत्स-ग्रहणी में है—

‘आहारसरीरिन्द्रियपञ्जन्ती आणपाणभासमणो ।

चत्तारि पंच छप्पि य, एगिन्द्रियविगलसंतीणां ॥३४६॥’

यही गाथा गोम्मतसार-जीवकाण्ड में ११८ वें नम्बर पर दर्ज है। प्रस्तुत विषय का विशेष स्वरूप जानने के लिए ये स्थल देखने योग्य हैं—

नन्दी, पृ० १०४-१०५; पञ्चसं०, द्वा० १, गा० ५ वृत्ति; लोकप्र०, स० ३ श्लो० ७-४२ तथा जीवकाण्ड, पर्याप्ति-अधिकार, गा० ११७-१२७।

(५) 'उपयोग का सह-क्रमभाव'

छद्मस्थ के उपयोग क्रमभावी हैं, इसमें मतभेद नहीं है, पर केवली के उपयोग के संबन्ध में मुख्य तीन पक्ष हैं—

(१) सिद्धान्त-पक्ष. केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी मानता है। इसके समर्थक श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) दूसरा पक्ष केवलज्ञान-केवलदर्शन, उभय उपयोग को सहभावी मानता है। इसके पोषक श्री मल्लवादी तार्किक आदि हैं।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगों का भेद न मानकर उनका ऐक्य मानता है। इसके स्थापक श्री सिद्धसेन दिवाकर हैं।

तीनों पक्षों की कुछ मुख्य-मुख्य दलीलें क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

१—(क) सिद्धान्त (भगवती-शतक १८ और २५ के ६ उद्देश्य, तथा प्रज्ञापना-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनों का अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व स्पष्ट वर्णित है। (ख) निर्युक्ति (आ० नि० गा० ६७७-६७९) में केवलज्ञान-केवलदर्शन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण उनके द्वारा सर्व-विषयक ज्ञान तथा दर्शन का होना और युगपत् दो उपयोगों का निषेध स्पष्ट बतलाया है। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आचरण और उपयोगों की वारह संख्या शास्त्र में (प्रज्ञापना २६, पृ० ५२, ५ आदि) जगह-जगह वर्णित है। (घ) केवलज्ञान और केवलदर्शन, अनन्त कहे जाते हैं, सो लब्धि की अपेक्षा से उपयोग की अपेक्षा से नहीं। उपयोग की अपेक्षा से उनकी स्थिति एक समय की है; क्योंकि उपयोग की अपेक्षा से अनन्तता शास्त्र में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। (ङ) उपयोगों का स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिए केवल ज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिए।

२—(क) आचरण-क्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय, समकालीन होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। (ख) छद्मस्थिक-उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव घट सकता है, ज्ञायिक-उपयोगों में नहीं; क्योंकि बोध-स्वभाव शाश्वत आत्मा, जब निरावरण हो, तब उसके दोनों ज्ञायिक-उपयोग निरन्तर ही होने चाहिए। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शन की सादि-अपर्यवसितता, जो शास्त्र में कही है, वह भी युगपत्-पक्ष में ही घट सकती है; क्योंकि इस पक्ष में दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिए द्रव्यार्थिकनय से उपयोग-द्वय के प्रवाह को अपर्यवसित (अनन्त) कहा जा सकता है। (घ) केवलज्ञान-केवलदर्शन के संबन्ध में सिद्धान्त में जहाँ-

कहीं जो कुछ कहा गया है, वह सब दोनों के व्यक्ति-भेद का साधक है, क्रम-भावित्वका नहीं। इसलिए दोनों उपयोग को सहभावी मानना चाहिए।

३—(क) जैसे सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, वैसे ही आवरण-क्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल-उपयोग, पदार्थों के सामान्य-विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। (ख) जैसे केवल ज्ञान के समय, मतिज्ञानावरणादि का अभाव होने पर भी मति आदि ज्ञान, केवल ज्ञान से अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर भी केवलदर्शन को, केवलज्ञान से अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण, छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन में परस्पर भेद माना जा सकता है, पर अनन्त-विषयकता और क्षायिक-भाव समान होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन में किसी-न-तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि केवलदर्शन को केवलज्ञान से अलग माना जाए तो वह सामान्यमात्र को विषय करनेवाला होने से अल्प-विषयक सिद्ध होगा, जिससे उसका शास्त्र-कथित अनन्त-विषयकत्व नहीं घट सकेगा। (ङ) केवली का भाषण, केवलज्ञान-केवलदर्शन पूर्वक होता है, यह शास्त्र-कथन अमेद-पक्ष ही में पूर्णतया घट सकता है। (च) आवरण-भेद कथञ्चित् है; अर्थात् वस्तुतः आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि-भेद की अपेक्षा से उसके भेद समझने चाहिए इसलिए एक उपयोग-व्यक्ति में ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग मानना चाहिए। उपयोग, ज्ञान-दर्शन दो अलग-अलग मानना युक्त नहीं; अतएव ज्ञान-दर्शन दोनों शब्द पर्यायमात्र (एकार्थवाची) हैं।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने अपने ज्ञानविन्दु पृ० १६४ में नय-दृष्टि से तीनों पक्षों का समन्वय किया है—सिद्धान्त-पक्ष, शुद्ध ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से; श्री मल्लनादीजी का पक्ष, व्यवहार-नय की अपेक्षा से और श्रीसिद्धसेन दिवाकर का पक्ष संग्रहनय की अपेक्षा से जानना चाहिए। इस विषय का सविस्तर वर्णन, सम्प्रतितर्क; जीवकाण्ड गा० ३ से आगे; विशेषावश्यक भाष्य, गा० ३०८-३१३५; श्रीहरिभद्रसूरि कृत धर्मसंग्रहणी गा० १३३६-१३५६; श्रीसिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थ टीका अ० १, सू० ३१, पृ० ६०; श्रीमलयगिरि-नन्दीवृत्ति पृ० १३४-१३८ और ज्ञानविन्दु पृ० १५४-१६४ से जान लेना चाहिए।

दिगम्बर-सम्प्रदाय में उक्त तीन पक्ष में से दूसरा अर्थात् युगपत् उपयोग-द्वय का पक्ष ही प्रसिद्ध है—

‘जुगवं बट्टइ णाणं, केवलणाणिसस दंसणं च तद्वा।

दिणायरपयासतापं, जह बट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥’ —नियमसार।

‘सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं ।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणकमपउत्ती ॥७३०॥’ —जीवकाण्ड ।
‘दंसणपुव्वं णाणं, छदमस्थाणं ए दाण्णिण उवउग्गा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥’
—द्रव्यसंग्रह ।

(६) ‘एकेन्द्रिय में श्रुतज्ञान’

एकेन्द्रियों में तीन उपयोग माने गए हैं । इसलिए यह शङ्का होती है कि स्पर्शनेन्द्रिय-मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति-उपयोग मानना ठीक है, परन्तु भाषालब्धि (बोलने की शक्ति) तथा श्रवणलब्धि (सुनने की शक्ति) न होने के कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे माना जा सकता है; क्योंकि शास्त्र में भाषा तथा श्रवणलब्धि वालों को ही श्रुतज्ञान माना है । यथा—

‘भावसुयं भासासायलद्धिणा जुज्जए न इयरस्स ।

भासाभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हविज्जाहि ॥१०२॥’

—विशेषावश्यक ।

बोलने व सुनने की शक्ति वाले ही को भावश्रुत हो सकता है, दूसरे को नहीं क्योंकि ‘श्रुत-ज्ञान’ उस ज्ञान को कहते हैं, जो बोलने की इच्छा वाले या वचन सुननेवाले को होता है ।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्य (बाह्य) इन्द्रियाँ न होने पर भी वृद्धादि जीवों में पाँच भावेन्द्रिय-जन्य ज्ञानों का होना, जैसा शास्त्र-सम्मत है; वैसे ही बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र-सम्मत है ।

‘जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विदियावरोहे वि ।

तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१०४॥’

—विशेषावश्यक ।

जिस प्रकार द्रव्य-इन्द्रियों के अभाव में भावेन्द्रिय-जन्य सूक्ष्म ज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के भाषा आदि बाह्य निमित्त के अभाव में भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों को अल्प भावश्रुत होता है । यह ठीक है कि औरों को जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा एकेन्द्रियों को नहीं होता । शास्त्र में एकेन्द्रियों को आहार का अभिलाष माना है, यही उनके अस्पष्ट ज्ञान मानने में हेतु है ।

आहार का अभिलाष, लुधावेदनीय कर्म के उदय से होनेवाला आत्मा का परिणाम-विशेष (अध्यवसाय) है। यथा—

‘आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः लुधेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इति ।’

—आवश्यक, हारिमद्री वृत्ति पृ० ५८० ।

इस अभिलाष रूप अध्यवसाय में ‘मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा’, इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्प सहित होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। यथा—

‘इन्द्रियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥१००॥’

—विशेषावश्यक ।

अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो नियत अर्थ का कथन करने में समर्थ श्रुतानुसारी (शब्द तथा अर्थ के विकल्प से युक्त) है, उसे ‘भावश्रुत’ तथा उससे भिन्न ज्ञान को ‘मतिज्ञान’ समझना चाहिए। अब यदि एकेन्द्रियों में श्रुत-उपयोग न माना जाए तो उनमें आहार का अभिलाष जो शास्त्र-सम्मत है, वह कैसे घट सकेगा ? इसलिए बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग अवश्य ही मानना चाहिए।

भाषा तथा श्रवणलब्धि वालों को ही भावश्रुत होता है, दूसरे को नहीं, इस शास्त्र-कथन का तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्तिवाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।



(७) ‘योगमार्गणा’

तीन योगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखा कर उनकी व्याख्या राज-वार्तिक में बहुत ही स्पष्ट की गई है। उसका सारांश इस प्रकार है—

(क) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होनेवाला जो मनन के अभिमुख आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द, वह ‘मनोयोग’ है। इसका बाह्य कारण, मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण, वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा नो-इन्द्रियावरणकर्मका क्षय-क्षयोपशम (मनोलब्धि) है।

(ख) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रदेश-परि-स्पन्द ‘वचनयोग’ है। इसका बाह्य कारण पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्म के उदय से

होनेवाला वचनवर्गणाका आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा भतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्म का क्षय-क्षयोपशम (वचनलब्धि) है ।

(ग) बाह्य और आभ्यन्तर कारण जन्य गमनादि-विषयक आत्मा का प्रदेश-परिस्पन्द 'काययोग' है । इसका बाह्य कारण किसी-न-किसी प्रकार की शरीर-वर्गणा का आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम है ।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें, इन दोनों गुणस्थानों के समय वीर्यान्तरायकर्म का क्षयरूप आभ्यन्तर कारण समान ही है, परन्तु वर्गणालम्बनरूप बाह्य कारण समान नहीं है । अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थान के समय पाया जाता है, पर चौदहवें गुणस्थान के समय नहीं पाया जाता । इसीसे तेरहवें गुणस्थान में योग-विधि होती है, चौदहवें में नहीं । इसके लिए देखिए, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक ६, १, १० ।

योग के विषय में शंका-समाधान

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग ही हैं; क्योंकि इन दोनों के योगों के समय, शरीर का व्यापार अवश्य रहता ही है और इन योगों के आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्य का ग्रहण भी किसी-न-किसी प्रकार के शारीरिक-योग से ही होता है ।

इसका समाधान यही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोग से जुदा नहीं हैं, किन्तु काययोग-विशेष ही हैं । जो काययोग, मनन करने में सहायक होता है, वही उस समय 'मनोयोग' और जो काययोग, भाषा के बोलने में सहायक होता है, वही उस समय 'वचनयोग' माना गया है । सारांश यह है कि व्यवहार के लिए ही काययोग के तीन भेद किये हैं ।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीति से श्वासोच्छ्वास में सहायक होने-वाले काययोग को 'श्वासोच्छ्वासयोग' कहना चाहिए और तीन की जगह चार योग मानने चाहिए ।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहार में, जैसा भाषा का और मनका विशिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासोच्छ्वासका नहीं । अर्थात् श्वासोच्छ्वास और शरीर का प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है, जैसा शरीर और मन-वचन का । इसी से तीन ही योग माने गए हैं । इस विषय के विशेष विचार के लिए

विशेषावश्यक-भाष्य, गा० ३५६—३६४ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लो० १३५४—१३५५ के बीच का गद्य देखना चाहिए।

द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीर का स्वरूप

(क) जो पुद्गल मन बनने के योग्य हैं, जिनको शास्त्र में 'मनोवर्गणा' कहते हैं, वे जब मनरूप में परिणत हो जाते हैं—विचार करने में सहायक हो सकें, ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें 'मन' कहते हैं। शरीर में द्रव्यमन के रहने का कोई खास स्थान तथा उसका नियत आकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में नहीं है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यमन को शरीर-व्यापी और शरीराकार समझना चाहिए। दिग्म्बर-सम्प्रदाय में उसका स्थान हृदय तथा आकार कमल के समान माना है।

(ख) वचनरूप में परिणत एक प्रकार के पुद्गल, जिन्हें भाषावर्गणा कहते हैं, वे ही 'वचन' कहलाते हैं।

(ग) जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सकता है, जो सुख-दुःख भोगने का स्थान है और जो औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं से बनता है, वह 'शरीर' कहलाता है।



(घ) 'सम्यक्त्व'

इसका स्वरूप, विशेष प्रकार से जानने के लिए निम्नलिखित कुछ बातों का विचार करना बहुत उपयोगी है—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निहैतुक ?

(२) ज्ञायोपशमिक आदि भेदों का आधार क्या है।

(३) औपशमिक और ज्ञायोपशमिक-सम्यक्त्व का आपस में अन्तर तथा ज्ञायिकसम्यक्त्व की विशेषता।

(४) शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदय का स्वरूप।

(५) क्षयोपशम और उपशम की व्याख्या तथा खुलासावार विचार।

(१) सम्यक्त्व-परिणाम सहेतुक है या निहैतुक ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसको निहैतुक नहीं मान सकते; क्योंकि जो वस्तु निहैतुक हो, वह सब काल में, सब जगह, एक-सो होनी चाहिए अथवा उसका अभाव होना चाहिए। सम्यक्त्वपरिणाम, न तो सब में समान है और न उसका अभाव है। इसीलिए उसे सहेतुक ही मानना चाहिए। सहेतुक मान लेने पर यह प्रश्न होता है कि उसका

नियत हेतु क्या है; प्रवचन-श्रवण, भगवत्पूजन आदि जो-जो बाह्य निमित्त माने जाते हैं, वे तो सम्यक्त्व के नियत कारण हो ही नहीं सकते; क्योंकि इन बाह्य निमित्तों के होते हुए भी अभव्यों की तरह अनेक भव्यों को सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इसका उत्तर इतना ही है कि सम्यक्त्व-परिणाम प्रकट होने में नियत कारण जीव का तथाविध भव्यत्व-नामक अनादि पारिणामिक-स्वभाव विशेष ही है। जब इस पारिणामिक भव्यत्वका परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व-लाभ होता है। भव्यत्व परिणाम, साध्य रोग के समान है। कोई साध्य रोग, स्वयमेव (बाह्य उपाय के बिना ही) शान्त हो जाता है। किसी साध्य रोग के शान्त होने में वैद्य का उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है, जो बहुत दिनों के बाद मिटता है। भव्यत्व-स्वभाव ऐसा ही है। अनेक जीवों का भव्यत्व, बाह्य निमित्त के बिना ही परिपाक प्राप्त करता है। ऐसे भी जीव हैं, जिनके भव्यत्व-स्वभाव का परिपाक होने में शास्त्र-श्रवण आदि बाह्य निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है। और अनेक जीवों का भव्यत्व परिणाम दीर्घ-काल व्यतीत हो चुकने पर, स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है। शास्त्र-श्रवण, अर्हत्पूजन आदि जो बाह्य निमित्त हैं, वे सहकारीमात्र हैं। उनके द्वारा कभी-कभी भव्यत्व का परिपाक होने में मदद मिलती है, इससे व्यवहार में वे सम्यक्त्व के कारण माने गए हैं और उनके आलम्बन की आवश्यकता दिखाई जाती है। परन्तु निश्चय-दृष्टि से तथाविध-भव्यत्व के रिपाक को ही सम्यक्त्व का अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिए। इससे शास्त्र-श्रवण, प्रतिमा-पूजन आदि बाह्य क्रियाओं की अनैकान्तिकता, जो अधिकारी भेद पर अवलम्बित है, उसका खुलासा हो जाता है। यही भाव भगवान् उमास्वति ने 'तन्निर्गर्गादधिगमाद्वा'—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र ३ से प्रकट किया है। और यही बात पञ्चसंग्रह-द्वार १, गा० ८ की मलय-गिरि-टीका में भी है।

(२) सम्यक्त्व गुण, प्रकट होने के आभ्यन्तर कारणों की जो विविधता है, वही ज्ञायोपशमिक आदि भेदों का आधार है—अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियों का ज्ञायोपशम, ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्व का; उपशम, औपशमिकसम्यक्त्वका और ज्ञय, ज्ञायिकसम्यक्त्व का कारण है। तथा सम्यक्त्व से गिरा कर मिथ्यात्व की ओर झुकानेवाला अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय, सासादनसम्यक्त्व का कारण और मिश्रमोहनीय का उदय, मिश्रसम्यक्त्व का कारण है। औपशमिकसम्यक्त्व में काललब्धि आदि अन्य क्या २ निमित्त अपेक्षित हैं और वह किस-किस गति में किन-किन कारणों से होता है, इसका विशेष वर्णन तथा ज्ञायिक और ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्व का वर्णन क्रमशः—तत्त्वार्थ

अ० २, सू० ३ के पहले और दूसरे राजवार्तिक में तथा सू० ४ और ५ के सातवें राजवार्तिक में है ।

(३) औपशमिकसम्यक्त्व के समय, दर्शनमोहनीय का किसी प्रकार का उदय नहीं होता; पर ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्व के समय, सम्यक्त्वमोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होता है । इसी भिन्नता के कारण शास्त्र में औपशमिकसम्यक्त्व को, 'भावसम्यक्त्व' और ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्व को, 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहा है । इन दोनों सम्यक्त्वों से ज्ञायिकसम्यक्त्व विशिष्ट है; क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी हैं ।

(४) यह शङ्का होती है कि मोहनीयकर्म घातिकर्म है । वह सम्यक्त्व और चारित्रपर्याय का घात करता है, इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय के विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीय के प्रदेशोदय के समय, सम्यक्त्व-परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय, मोहनीयकर्म है सही, पर उसके दलिक विशुद्ध होते हैं; क्योंकि शुद्ध अध्ववसाय से जब मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के दलिकोंका सर्वघाती रस नष्ट हो जाता है, तब वेही एक-स्थान रसवाले और द्वि-स्थान अतिमन्द रसवाले दलिक 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहलाते हैं । जैसे—काँच आदि पारदर्शक वस्तुएँ नेत्र के दर्शन-कार्य में रुकावट नहीं डालती; वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिकों का विपाकोदय सम्यक्त्व-परिणाम के आविर्भाव में प्रतिबन्ध नहीं करता । अब रहा मिथ्यात्व का प्रदेशोदय, सो वह भी, सम्यक्त्व-परिमाण का प्रतिबन्धक नहीं होता; क्योंकि नीरस दलिकोंका ही प्रदेशोदय होता है । जो दलिक, मन्द रसवाले हैं, उनका विपाकोदय भी जब गुण का घात नहीं करता, तब नीरस दलिकों के प्रदेशोदय से गुण के घात होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती । देखिए, पञ्चसंग्रह-द्वार १, १५वीं गाथा की टीका में ग्यारहवें गुणस्थान की व्याख्या ।

(५) ज्ञयोपशम-जन्य पर्याय 'ज्ञायोपशमिक' और उपशम-जन्य पर्याय 'औपशमिक' कहलाता है । इसलिए किसी भी ज्ञायोपशमिक और औपशमिक भाव का यथार्थ ज्ञान करने के लिए पहले ज्ञयोपशम और उपशम का ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है । अतः इनका स्वरूप शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार लिखा जाता है—

(१) ज्ञयोपशम शब्द में दो पद हैं—ज्ञय तथा उपशम । 'ज्ञयोपशम' शब्द का मतलब, कर्म के ज्ञय और उपशम दोनों से है । ज्ञय का मतलब, आत्मा से कर्म का विशिष्ट संबन्ध छूट जाना और उपशम का मतलब कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ संलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना है । यह तो हुआ

सामान्य अर्थ; पर उसका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है। बन्धावलिका पूर्ण हो जाने पर किसी विवक्षित कर्म का जब क्षयोपशम शुरू होता है, तब विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका-पर्यन्त के दलिक, जिन्हें उदयावलिका-प्राप्त या उदीर्ण-दलिक कहते हैं, उनका तो प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय (अभाव) होता रहता है; और जो दलिक, विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका तक में उदय पाने योग्य नहीं हैं—जिन्हें उदयावलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मन्द रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक, अपनी उदयावलिका प्राप्त होने पर, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय द्वारा क्षीण हो जाते हैं अर्थात् आत्मा पर अपना फल प्रकट नहीं कर सकते या कम प्रकट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त के उदय-प्राप्त कर्मदलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद के उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदय संबन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मन्द रस में परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहलाता है।

क्षयोपशम-योग्य कर्म—

क्षयोपशम, सब कर्मों का नहीं होता; सिर्फ घातिकर्मों का होता है। घातिकर्म के देशघाति और सर्वघाति, ये दो भेद हैं। दोनों के क्षयोपशम में कुछ विभिन्नता है।

(क) जब देशघातिकर्म का क्षयोपशम प्रवृत्त होता है, तब उसके मंद रस-युक्त कुछ दलिकों का विपाकोदय, साथ ही रहता है। विपाकोदय-प्राप्त दलिक, अल्प रस-युक्त होने से स्वाचार्य गुण का घात नहीं कर सकते, इससे यह सिद्धांत माना गया है कि देशघातिकर्म के क्षयोपशम के समय, विपाकोदय विरुद्ध नहीं है, अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य को—स्वाचार्य गुण के विकास को—रोक नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि देशघातिकर्म के विपाकोदय-मिश्रित क्षयोपशम के समय, उसका सर्वघाति-रस-युक्त कोई भी दलिक, उदयमान नहीं होता। इससे यह सिद्धांत मान लिया गया है कि जब, सर्वघाति रस, शुद्ध-अध्यवसाय से देशघातिरूप में परिणत हो जाता है, तभी अर्थात् देशघाति-स्पर्धक के ही विपाकोदय-काल में क्षयोपशम अवश्य प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं, जिनमें से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन आठ प्रकृतियों का क्षयोपशम तो सदा से ही प्रवृत्त है; क्योंकि आचार्य मतिज्ञान आदि पर्याय, अनादि काल से क्षयोपशमिकरूप में रहते ही हैं। इसलिए यह मानना चाहिए

कि उक्त आठ प्रकृतियों के देशघाति-रसस्पर्धक का ही उदय होता है, सर्वघाति-रसस्पर्धक का कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चन्द्रदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इन चार प्रकृतियों का ज्ञयोपशम कादाचित्क (अनियत) है, अर्थात् जब उनके सर्वघाति-रसस्पर्धक, देशघातिरूप में परिणत हो जाते हैं; तभी उनका ज्ञयोपशम होता है और जब सर्वघाति-रसस्पर्धक उदयमान होते हैं, तब अवधिज्ञान आदि का घात ही होता है। उक्त चार प्रकृतियों का ज्ञयोपशम भी देशघाति-रसस्पर्धक के विपाकोदय से मिश्रित ही समझना चाहिए।

उक्त बारह के सिवाय शेष तेरह (चार संज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियों जो मोहनीय की हैं, वे अध्रुवोदयिनी हैं। इसलिए जब उनका ज्ञयोपशम, प्रदेशोदयमात्र से युक्त होता है, तब तो वे स्वावार्थ गुण का लेश भी घात नहीं करतीं और देशघातिनी ही मानी जाती हैं; पर जब उनका ज्ञयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होता है, तब वे स्वावार्थ गुण का कुछ घात करतीं हैं और देशघातिनी कहलाती हैं।

(ख) घातिकर्म की बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। इनमें में केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण, इन दो का तो ज्ञयोपशम होता ही नहीं; क्योंकि उनके दलिक कभी देशघाति-रसयुक्त बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही रोका जा सकता है। शेष-अठारह प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका ज्ञयोपशम हो सकता है; परंतु यह बात, ध्यान में रखनी चाहिए कि देशघातिनी प्रकृतियों के ज्ञयोपशम के समय, जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियों के ज्ञयोपशम के समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियों का ज्ञयोपशम, तभी सम्भव है, जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिए यह सिद्धांत माना है कि 'विपाकोदयवती प्रकृतियों का ज्ञयोपशम, यदि होता है तो देशघातिनी ही का, सर्वघातिनी का नहीं'।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियाँ, विपाकोदय के निरोध के योग्य मानी जाती हैं; क्योंकि उनके आचार्य गुणों का ज्ञायोपशमिक स्वरूप में व्यक्त होना माना गया है, जो विपाकोदय के निरोध के सिवाय घट नहीं सकता।

(२) उपशम—ज्ञयोपशम की व्याख्या में, उपशम शब्द का जो अर्थ किया गया है, उससे औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ कुछ उदार है। अर्थात् ज्ञयोपशम के उपशम शब्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मंद रस में परिणमन होना है; पर औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है; क्योंकि ज्ञयोपशम

में कर्म का क्षय भी जारी रहता है, जो कम से कम प्रदेशोदय के सिवाय हो ही नहीं सकता। परंतु उपशम में यह बात नहीं। जब कर्म का उपशम होता है, तभी से उसका क्षय रुक ही जाता है, अत एव उसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसीसे उपशम-अवस्था तभी मानी जाती है, जब कि अन्तरकरण होता है। अन्तरकरण के अन्तर्दुर्हृत में उदय पाने के योग्य दलिकों में से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दलिक पीछे उदय पाने के योग्य बना दिये जाते हैं, अर्थात् अन्तरकरण में वेद्य-दलिकों का अभाव होता है।

अत एव क्षयोपशम और उपशम की संक्षिप्त व्याख्या इतनी ही की जाती है कि क्षयोपशम के समय, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय होता है, पर उपशम के समय, वह भी नहीं होता। यह नियम याद रखना चाहिए कि उपशम भी घातिकर्म का ही हो सकता है, सो भी सब घातिकर्म का नहीं, किंतु केवल मोहनीय-कर्म का। अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार का उदय, यदि रोक जा सकता है तो मोहनीयकर्म का ही। इसके लिए देखिए, नन्दी, सू० ८ की टीका, पृ० ७७; कम्मपयडी, श्री यशोविजयजी-कृत टीका, पृ० १३; पञ्च० द्वा० १, गा २६ की मलयगिरि-व्याख्या। सम्यक्त्व स्वरूप, उत्पत्ति और भेद-प्रभेदादि के सविस्तर विचार के लिए देखिए, लोक प्र०-सर्ग ३, श्लोक ५६६-७००।

(९)• अचक्षुर्दर्शन का सम्भव

अठारह मार्गणा में अचक्षुर्दर्शन परिगणित है; अतएव उसमें भी चौदह जीवस्थान समझने चाहिए। परन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुर्दर्शन में जो अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं, सो क्या अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अचक्षुर्दर्शन मान कर या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुर्दर्शन होता है, यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाए तब तो ठीक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में ही चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर जैसे—चक्षुर्दर्शन में तीन अपर्याप्त जीवस्थान चौथे कर्मग्रंथ की १७.वीं गाथा में मतान्तर से बतलाये हुए हैं वैसे ही इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय द्वारा सामान्य बोध मान कर अचक्षुर्दर्शन में सात अपर्याप्त जीवस्थान घटाये जा सकते हैं।

परन्तु श्रीजयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने टवे में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन मान कर उसमें अपर्याप्त जीवस्थान माने हैं। और सिद्धान्त के आधार से बतलाया है कि विग्रहगति और कार्मणयोग में अवधिदर्शनरहित जीव को अचक्षुदर्शन होता है। इस पक्ष में प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय न होने से अचक्षुदर्शन कैसे मानना ? इसका उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है।

(१) द्रव्येन्द्रिय होने पर द्रव्य और भाव, उभय, इन्द्रिय-जन्य उपयोग और द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रिय-जन्य उपयोग, इस तरह दो प्रकार का उपयोग है। विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति होने के पहले, पहले प्रकार का उपयोग, नहीं हो सकता; पर दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है। ऐसा मानने में तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ६ की वृत्तिका—

‘अथवेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेद् यतः पृष्ठत उपसर्पन्तं सर्पं बुद्धयैवेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यतीति।’

यह कथन प्रमाण है। सारांश, इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले उपयोगात्मक अचक्षुदर्शन मान कर समाधान किया जा सकता है।

(२) विग्रहगति में और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले अचक्षुदर्शन माना जाता है, सो शक्तिरूप अर्थात् क्षयोपशमरूप, उपयोगरूप नहीं। यह समाधान, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वीं गाथा की टीका के—

‘त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्युपगमात्।’

इस उल्लेख के आधार पर दिया गया है।

प्रश्न—इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले जैसे उपयोगरूप या क्षयोपशमरूप अचक्षुदर्शन माना जाता है, वैसे ही चक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर—चक्षुर्दर्शन, नेत्ररूप विशेष-इन्द्रिय-जन्य दर्शन को कहते हैं। ऐसा दर्शन उसी समय माना जाता है, जब कि द्रव्यनेत्र हो। अतएव चक्षुर्दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। अचक्षुदर्शन किसी-एक इन्द्रिय-जन्य सामान्य उपयोग को नहीं कहते; किन्तु नेत्र-भिन्न किसी द्रव्येन्द्रिय से होनेवाले, द्रव्यमन से होनेवाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमन के अभाव में क्षयोपशममात्र से होनेवाले सामान्य उपयोग को कहते हैं। इसी से अचक्षुर्दर्शन को इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे, दोनों अवस्थाओं में माना है।



(१०) 'अनाहारक'

अनाहारक जीव दो प्रकार के होते हैं—छद्यस्थ और वीतराग । वीतराग में जो अशरीरी (मुक्त) हैं, वे सभी सदा अनाहारक ही हैं; परन्तु जो शरीरधारी हैं, वे केवलसमुद्घात के तीसरे चौथे और पाँचवें समय में ही अनाहारक होते हैं । छद्यस्थ जीव, अनाहारक तभी होते हैं, जब वे विग्रहगति में वर्तमान हों ।

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिए जीव को पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाना पड़ता है । दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्रेणि-पतित (वक्र-रेखा में) हो, तब उसे वक्र-गति करनी पड़ती है । वक्र-गति के संबन्ध में इस जगह तीन बातों पर विचार किया जाता है—

(१) वक्र-गति में विग्रह (घुमाव) की संख्या, (२) वक्र-गति का काल-परिमाण और (३) वक्र-गति में अनाहारकत्व का काल-मान ।

(१) कोई उत्पत्ति-स्थान ऐसा होता है कि जिसको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है । किसी स्थान के लिए दो विग्रह करने पड़ते हैं और किसी के लिए तीन भी । नवीन उत्पत्ति-स्थान, पूर्व-स्थान से कितना ही विश्रेणि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रह में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है ।

इस विषय में दिगम्बर-साहित्य में विचार-भेद नजर नहीं आता; क्योंकि—

'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।'—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २८ ।

इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका में श्री पूज्यपादस्वामी ने अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति का ही उल्लेख किया है । तथा—

'एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।' —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र ३० ।

इस सूत्र के छूठे राजवार्तिक में भट्टारक श्रीअकलङ्कदेव ने भी अधिक से अधिक त्रि-विग्रह-गति का ही समर्थन किया है । नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी गोमटसार-जीवकाण्ड की ६६६वीं गाथा में उक्त मत का ही निर्देश करते हैं ।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस विषय पर मतान्तर उल्लिखित पाया जाता है—

'विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ।' —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र २६ ।

'एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।' — तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३० ।

श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के भाष्य में भगवान् उमास्वाति ने तथा उसकी टीका में श्रीसिद्धसेनगणि ने त्रि-विग्रहगति का उल्लेख किया है । साथ ही उक्त भाष्य की टीका में चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर भी दर्साया है । इस मतान्तर का उल्लेख बृहत्संग्रहणी की ३२५वीं गाथा में और श्रीभगवती-शतक ७, उद्देश्य

१ की तथा शतक १४, उद्देश्य १ की टीका में भी है। किन्तु इस मतान्तर का जहाँ-कहाँ उल्लेख है, वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगति का निर्देश किसी मूल सूत्र में नहीं है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी गति करनेवाले जीव ही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रों के भाष्य में तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रिविग्रह से अधिक विग्रहवाली गति का संभव ही नहीं है।

‘अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहां त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति।’

भाष्य के इस कथन से तथा दिग्म्बर-ग्रंथों में अधिक से अधिक त्रि-विग्रह गति का ही निर्देश पाये जाने से और भगवती-टीका आदि में जहाँ-कहाँ चतुर्विग्रह-गति का मतान्तर है, वहाँ सब जगह उसकी अल्पता दिखाई जाने के कारण अधिक से अधिक तीन विग्रहवाली गति ही का पक्ष बहुमान्य समझना चाहिए।

(२) वक्र-गति के काल-परिमाण के संबन्ध में यह नियम है कि वक्र-गति का समय विग्रह की अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् जिस गति में एक विग्रह हो, उसका काल-मान दो समयोंका, इस प्रकार द्वि विग्रहगति का काल-मान तीन समयों का और त्रि-विग्रहगति का काल-मान चार समयों का है। इस नियम में श्वेताम्बर-दिग्म्बर का कोई मत-भेद नहीं। हाँ ऊपर चतुर्विग्रह गति के मतान्तर का जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार उस गति का काल-मान पाँच समयों का बतलाया गया है।

(३) विग्रहगति में अनाहारकत्व के काल-मान का विचार व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छोड़ने का समय, जो वक्र-गति का प्रथम समय है, उसमें पूर्व-शरीर-योग्य कुछ पुद्गल लोमाहारद्वारा ग्रहण किए जाते हैं।—बृहत्संग्रहणी गा० ३२६ तथा उसकी टीका, लोक० सर्ग ३, श्लो०, ११०७ से आगे। परन्तु निश्चयवादियों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटने के समय में, अर्थात् वक्र-गति के प्रथम समय में न तो पूर्व-शरीर का ही संबन्ध है और न नया शरीर बना है; इसलिए उस समय किसी प्रकार के आहार का संभव नहीं।—लोक० स० ३, श्लो० १११५ से आगे। व्यवहारवादी हो या निश्चयवादी, दोनों इस बात को बराबर मानते हैं कि वक्र-गति का अंतिम समय, जिसमें जीव नवीन स्थान में उत्पन्न होता है, उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहार नय के अनुसार अनाहारकत्व का काल-मान इस प्रकार समझना चाहिए—

एक विग्रह वाली गति, जिसकी काल-भर्यादा दो समय की है, उसके दोनों

समय में जीव आहारक ही होता है; क्योंकि पहले समय में पूर्व-शरीर योग्य लोमाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समय में नवीन शरीर-योग्य आहार । दो विग्रहवाली गति, जो तीन समय की है और तीन विग्रहवाली गति, जो चार समय की है, उसमें प्रथम तथा अन्तिम समय में आहारकत्व होने पर भी बीच के समय में अनाहारक-अवस्था पाई जाती है । अर्थात् द्वि-विग्रहगति के मध्य में एक समय तक और त्रि-विग्रहगति में प्रथम तथा अन्तिक समय को छोड़, बीच के दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहती है । व्यवहारनय का यह मत कि विग्रह की अपेक्षा अनाहारकत्व का समय एक कम ही होता है, तत्त्वार्थ-अध्याय २ के ३१ वें सूत्र में तथा उसके भाष्य और टीका में निर्दिष्ट है । साथ ही टीका में व्यवहारनय के अनुसार उपर्युक्त पाँच समय-परिमाण चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर को लेकर तीन समय का अनाहारकत्व भी बतलाया गया है । सारांश, व्यवहारनय की अपेक्षा से तीन समय का अनाहारकत्व, चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर से ही घट सकता है, अन्यथा नहीं । निश्चयदृष्टि के अनुसार यह बात नहीं है । उसके अनुसार तो जितने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्व के होते हैं । अतएव उस दृष्टि के अनुसार एक विग्रह वाली वक्र-गति में एक समय, दो विग्रहवाली गति में दो समय और तीन विग्रहवाली गति में तीन समय अनाहारकत्व के समझने चाहिए । यह बात दिग्म्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के ३०वें सूत्र तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक-टीका में है ।

श्वेताम्बर-ग्रंथों में चतुर्विग्रहवती गति के मतान्तर का उल्लेख है, उसको लेकर निश्चयदृष्टि से विचार किया जाए तो अनाहारकत्व के चार समय भी कहे जा सकते हैं ।

सारांश. श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ-भाष्य आदि में एक या दो समय के अनाहारकत्व का जो उल्लेख है, वह व्यवहारदृष्टि से और दिग्म्बरीय तत्त्वार्थ आदि ग्रंथों में जो एक, दो या तीन समय के अनाहारकत्व का उल्लेख है, वह निश्चयदृष्टि से । अतएव अनाहारकत्व के काल-मान के विषय में दोनों सम्प्रदाय में वास्तविक विरोध को अवकाश ही नहीं है ।

प्रसङ्ग-वश यह बात जानने-योग्य है कि पूर्व-शरीर का परित्याग, पर-भव की आयु का उदय और गति (चाहे ऋजु हो या वक्र), ये तीनों एक समय में होते हैं । विग्रहगति के दूसरे समय में पर-भव की आयु के उदय का कथन है, सो स्थूल व्यवहार नय की अपेक्षा से — पूर्व-भव का अन्तिम समय, जिसमें जीव विग्रहगति के अभिमुख हो जाता है, उसको उपचार से विग्रहगति का प्रथम समय मानकर — समझना चाहिए ।

— बृहत्संग्रहणी, गा० ३२५, मलयगिरि-टीका ।

(११) 'श्रवधिदर्शन'

श्रवधिदर्शन और गुणस्थान का संबन्ध विचारने के समय मुख्यतया दो बातें जानने की हैं—(१) पक्ष-भेद और (२) उनका तात्पर्य ।

(१) पक्ष-भेद—

प्रस्तुत विषय में मुख्य दो पक्ष हैं—(क) कर्मग्रंथिक और (ख) सैद्धान्तिक ।

(क) कर्मग्रंथिक-पक्ष भी दो हैं । इनमें से पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में श्रवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की २६ वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले कर्मग्रंथिकों को मान्य है । दूसरा पक्ष, तीसरे आदि दस गुणस्थानों में श्रवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष चौथे कर्मग्रंथ की ४८ वीं गाथा में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की ७० और ७१ वीं गाथा में निर्दिष्ट है, जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान मानने वाले कर्मग्रंथिकों को मान्य है । ये दोनों पक्ष, गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६६० और ७०४ थी गाथा में हैं । इनमें से प्रथम पक्ष, तत्त्वार्थ-अ० १ के ८ वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि में भी है । वह यह है —

'श्रवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि ।'

(ख) सैद्धान्तिक-पक्ष बिल्कुल भिन्न है । वह पहले आदि बारह गुणस्थानों में श्रवधिदर्शन मानता है । जो भगवती-सूत्र से मालूम होता है । इस पक्ष को श्री मलगिरि सूरि ने पञ्चसंग्रह-द्वार १ की ३१ वीं गाथा की टीका में तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की २६ वीं गाथा की टीका में स्पष्टता से दिखाया है ।

'ओहिदंसणअणागारोवउत्ता णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा !
णाणी वि अन्नाणी वि । जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी, अत्थे-
गइआ चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिण्णिवोहियणाणी सुयणाणी
ओहिणाणी । जे चउणाणी ते आभिण्णिवोहियणाणी सुयणाणी ओहि-
णाणी मणपउजवणाणी । जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुय-
अण्णाणी विभंगणाणी ।' —भगवती-शतक ८, उद्देश्य २ ।

(२) उक्त पक्षों का तात्पर्य—

(क) पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानों में अज्ञान माननेवाले, दोनों प्रकार के कर्मग्रंथिक विद्वान् श्रवधिज्ञान से श्रवधिदर्शन को अलग मानते हैं, पर विभङ्गज्ञान से नहीं । वे कहते हैं कि—

विशेष श्रवधि-उपयोग से सामान्य श्रवधि-उपयोग भिन्न है; इसलिए जिस प्रकार श्रवधि-उपयोगवाले सम्यक्त्वी में श्रवधिज्ञान और श्रवधिदर्शन, दोनों अलग-

अलग हैं, इसी प्रकार अवधि-उपयोगवाले अज्ञानी में भी विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं सही, तथापि विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनों के पारस्परिक भेद की अविवक्षा मात्र है। भेद विवक्षित न रखने का सबत्र दोनों का सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभङ्गज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होने के कारण विषय का निश्चय नहीं कर सकता।

इस अभेद-विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे आदि नौ गुण-स्थानों में और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन समझना चाहिए।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान् विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों के भेद की विवक्षा करते हैं, अभेद की नहीं। इसी कारण वे विभङ्गज्ञानी में अवधिदर्शन मानते हैं। उनके मत से केवल पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान का संभव है, दूसरे आदि में नहीं। इसलिए वे दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में विभङ्गज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर पहले बारह गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानते हैं। अवधिज्ञानी के और विभङ्गज्ञानी के दर्शन में निराकारता अंश समान ही है। इसलिए विभङ्गज्ञानी के दर्शन की 'विभङ्गदर्शन' ऐसी अलग संज्ञा न रखकर 'अवधिदर्शन' ही संज्ञा रखी है।

सारांश, कर्मग्रन्थिक-पक्ष, विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनों के भेद की विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक-पक्ष करता है।

—लोक प्रकाश सर्ग ३, श्लोक १०५७ से आगे।

इस मत-भेद का उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थ में श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है, जिसकी सूचना प्रज्ञापना-पद १८, वृत्ति (कलकत्ता) पृ० ५६६ पर है।

(१२) 'आहारक'—केवलज्ञानी के आहार पर विचार

तेरहवें गुणस्थान के समय आहारकत्व का अङ्गीकार चौथे कर्मग्रन्थ पृ० ८३ तथा दिगम्बरीय ग्रन्थों में है। देखो—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ८ की सर्वार्थसिद्धि—

'आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि'

इसी तरह गोम्मटसार-जीवकाण्ड की ६६५ और ६६७ वीं गाथा भी इसके लिए देखने योग्य है।

उक्त गुणस्थान में असातवेदनीय का उदय भी दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों (दूसरा कर्मग्रन्थ, गा० २२; कर्मकाण्ड, गा० २७१) में माना हुआ है। इसी तरह उस समय आहारसंश न होने पर भी कर्मणशरीरनामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलों की तरह औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से औदारिक-पुद्गलों का ग्रहण दिगम्बरीय ग्रन्थ (लब्धिसार गा० ६१४) में भी स्वीकृत है। आहारकत्व की व्याख्या गोम्मतसार में इतनी अधिक स्पष्ट है कि जिससे केवली के द्वारा औदारिक, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाने के संबन्ध में कुछ भी सन्देह नहीं रहता (जीव० गा० ६६३—६६४)। औदारिक पुद्गलों का निरन्तर ग्रहण भी एक प्रकार का आहार है, जो 'लोभाहार' कहलाता है। इस आहार के लिए जाने तक शरीर का निर्वाह और इसके अभाव में शरीर का अनिर्वाह अर्थात् योग-प्रवृत्ति पर्यन्त औदारिक पुद्गलों का ग्रहण अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। इस तरह केवलज्ञानी में आहारकत्व, उसका कारण असातवेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, दोनों सम्प्रदाय को समानरूप से मान्य है। दोनों सम्प्रदाय की यह विचार-समता इतनी अधिक है कि इसके सामने कवलाहार का प्रश्न विचारशीलों की दृष्टि में आप ही आप हल हो जाता है।

केवलज्ञानी कवलाहार को ग्रहण नहीं करते, ऐसा माननेवाले भी उनके द्वारा अन्य सूक्ष्म औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना निर्विवाद मानते ही हैं। जिनके मत में केवलज्ञानी कवलाहार ग्रहण करते हैं; उनके मत से वह स्थूल औदारिक पुद्गल के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार कवलाहार माननेवाले—न माननेवाले उभय के मत में केवलज्ञानी के द्वारा किसी-न-किसी प्रकार के औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किया जाना समान है। ऐसी दशा में कवलाहार के प्रश्न को विरोध का साधन बनाना अर्थ-हीन है।

(१३) 'दृष्टिवाद'—स्त्री को दृष्टिवाद का अनधिकार

[समानता—] व्यवहार और शास्त्र, ये दोनों, शारीरिक और आध्यात्मिक-विकास में स्त्री को पुरुष के समान सिद्ध करते हैं। कुमारी ताराबाई का शारीरिक-बल में प्र० शम्भूमूर्ति से कम न होना, विदुषी ऐनी बीसेन्ट का विचार व वक्तृत्व-शक्ति में अन्य किसी विचारक वक्ता-पुरुष से कम न होना एवं, विदुषी सरोजिनी नायडू का कवित्व-शक्ति में किसी प्रसिद्ध पुरुष-कवि से कम न होना, इस बात का

प्रमाण है कि समान साधन और अवसर मिलने पर स्त्री भी पुरुष-जितनी योग्यता प्राप्त कर सकती है। श्वेताम्बर-आचार्यों ने स्त्री को पुरुष के बराबर योग्य मानकर उसे केवल्य व मोक्ष की अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकास की अधिकारिणी सिद्ध किया है। इसके लिए देखिए, प्रज्ञापना-सूत्र० ७, पृ० १८; नन्दी-सूत्र० २१, पृ० १३०।

इस विषय में मत-भेद रखनेवाले दिग्गम-आचार्यों के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है। इसके लिए देखिए, नन्दी-टीका, पृ० १३१-१३३; प्रज्ञापना-टीका, पृ० २०-२२; शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका, पृ० ४२५-४३०।

आलङ्कारिक पण्डित राजशेखर ने मध्यस्थभावपूर्वक स्त्रीजाति को पुरुषजाति के तुल्य बतलाया है—

‘पुरुषवन् योषितोऽपि कवीभन्नेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति,
न स्त्रीणां पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो
महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च।’

—काव्यमीमांसा-अध्याय १०।

[विरोध—] स्त्री को दृष्टिवाद के अध्ययन का जो निषेध किया है, इसमें दो तरह से विरोध आता है—(१) तर्क-दृष्टि से और (२) शास्त्रोक्त मर्यादा से।

(१) एक ओर स्त्री को केवलज्ञान व मोक्ष तक की अधिकारिणी मानना और दूसरी ओर उसे दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए—श्रुतज्ञान-विशेष के लिए—अयोग्य बतलाना, ऐसा विरुद्ध जान पड़ता है, जैसे किसी को रत्न सौंपकर कहना कि तुम कौड़ी की रत्ना नहीं कर सकते।

(२) दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध करने से शास्त्र-कथित कार्य-कारण-भाव की मर्यादा भी बाधित हो जाती है। जैसे—शुद्धध्यान के पहले दो पाद प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता; ‘पूर्व’ ज्ञान के बिना शुद्धध्यान के प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होते और ‘पूर्व’, दृष्टिवाद का एक हिस्सा है। यह मर्यादा शास्त्र में निर्विवाद स्वीकृत है—

‘शुक्ते चाद्ये पूर्वविदः।’

—तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० ३६।

इस कारण दृष्टिवाद के अध्ययन की अनधिकारिणी स्त्री को केवलज्ञान की अधिकारिणी मान लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है।

दृष्टिवाद के अनधिकार के कारणों के विषय में दो पक्ष हैं—

(क) पहला पक्ष, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि का है। इस पक्ष में स्त्री में लुञ्जत्व, अभिमान, इन्द्रिय-चाञ्चल्य, मति-मान्द्य आदि मानसिक दोष दिखाकर उसको दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया है। इसके लिए देखिए, विशेष०, भा०, ५५२वीं गाथा।

(ख) दूसरा पक्ष, श्री हरिभद्रसूरि आदि का है। इस पक्ष में अशुद्धिरूप शारीरिक-दोष दिखाकर उसका निषेध किया है। यथा—

‘कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषान् ।’

—ललितविस्तार, पृ० २११।

[नयदृष्टि से विरोध का परिहार—] दृष्टिवाद के अनधिकार से स्त्री को केवल-ज्ञान के पाने में जो कार्य-कारण-भाव का विरोध दीखता है, वह वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि शास्त्र, स्त्री में दृष्टिवाद के अर्थ-ज्ञान की योग्यता मानता है; निषेध सिर्फ शाब्दिक-अध्ययन का है।

‘श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद्भावतो भावोऽविरुद्ध एव ।’

—ललितविस्तार तथा इसकी श्री मुनिचन्द्रसूरि-कृत पञ्जिका, पृ० १११।

तप, भावना आदि से जब ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम तीव्र हो जाता है, तब स्त्री शाब्दिक-अध्ययन के सिवाय ही दृष्टिवाद का सम्पूर्ण अर्थ-ज्ञान कर लेती है और शुक्लध्यान के दो पाद पाकर केवलज्ञान को भी पा लेती है—

‘यदि च शास्त्रयोगाम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावादाद्यशक्त्वाभ्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्, इति विभाव्यते, तदा निर्गन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात् ।’

—शास्त्रवार्ता०, पृ० ४२६।

यह नियम नहीं है कि गुरु-मुख से शाब्दिक-अध्ययन बिना किये अर्थ-ज्ञान न हो। अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो किसी से बिना पढ़े ही मनन-चिन्तन-द्वारा अपने अभीष्ट विषय का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

अब रहा शाब्दिक-अध्ययन का निषेध, सो इस पर अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न होते हैं। यथा—जिसमें अर्थ-ज्ञान की योग्यता मान ली जाए, उसको सिर्फ शाब्दिक-अध्ययन के लिए अयोग्य बतलाना क्या संगत है? शब्द, अर्थ-ज्ञान का साधन मात्र है। तप, भावना आदि अन्य साधनों से जो अर्थ-ज्ञान संपादन कर सकता है, वह उस ज्ञान को शब्द द्वारा संपादन करने के लिए अयोग्य है, यह

कहना कहाँ तक संगत है ? शाब्दिक-अध्ययन के निषेध के लिए तुच्छत्व अभिमान आदि जो मानसिक-दोष दिखाए जाते हैं, वे क्या पुरुषजाति में नहीं होते ? यदि विशिष्ट पुरुषों में उक्त दोषों का अभाव होने के कारण पुरुष-सामान्य के लिए शाब्दिक अध्ययन का निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष-तुल्य विशिष्ट स्त्रियों का संभव नहीं है ? यदि असंभव होता तो स्त्री-मोक्ष का वर्णन क्यों किया जाता ? शाब्दिक-अध्ययन के लिए जो शारीरिक-दोषों की संभावना की गई है, वह भी क्या सब स्त्रियों को लागू पड़ती है ? यदि कुछ स्त्रियों को लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषों में भी शारीरिक-अशुद्धि की संभावना नहीं है ? ऐसी दशा में पुरुष-जाति को छोड़ स्त्री-जाति के लिए शाब्दिक-अध्ययन का निषेध किस अभिप्राय से किया है ? इन तर्कों के संबन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक-अध्ययन का जो निषेध किया गया है, वह प्रायिक जान पड़ता है, अर्थात् विशिष्ट स्त्रियों के लिए अध्ययन का निषेध नहीं है। इसके समर्थन में यह कहा जा सकता है कि जब विशिष्ट स्त्रियों, दृष्टिवाद का अर्थ-ज्ञान वीतरागभाव, केवलज्ञान और मोक्ष तक पाने में समर्थ हो सकती हैं, तो फिर उनमें मानसिक दोषों की संभावना ही क्या है ? तथा वृद्ध, अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवाली स्त्रियों में शारीरिक-अशुद्धि कैसे बतलाई जा सकती है ? जिनको दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए योग्य समझा जाता है, वे पुरुष भी, जैसे-स्थूलभद्र, दुर्बलिका पुष्यभिन्न आदि, तुच्छत्व, स्मृति-दोष आदि कारणों से दृष्टिवाद की रक्षा न कर सके।

‘तेण चित्तिं भगिणीणं इद्धिं दरिसेमि त्ति सीहरूवं विउव्वइ ।’

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ६६८ ।

‘ततो आयरिण्हिं दुव्वलियपुस्समित्तो तस्स वायणायरिओ दिण्णो, ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवड्ढितो भणइ मम वायणं देतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अऊकरं-तस्स नवमं पुव्वं नासिहिति ताहे आयरिया चित्तेति—जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं भरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्टं चेव ।’

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ३०८ ।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी स्त्रियों को ही अध्ययन का निषेध क्यों किया गया ? इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है - (१) समान सामग्री मिलाने पर भी पुरुषों के मुकाबिले में स्त्रियों का कम संख्या में योग्य होना और (२) ऐतिहासिक-परिस्थिति ।

(१) जिन पश्चिमीय देशों में स्त्रियों को पढ़ने आदि की सामग्री पुरुषों के समान प्राप्त होती है, वहाँ पर इतिहास देखने से यही जान पड़ता है कि स्त्रियों पुरुषों के तुल्य हो सकती हैं सही, पर योग्य व्यक्तियों की संख्या, स्त्रीजाति की अपेक्षा पुरुष जाति में अधिक पाई जाती है ।

(२) कुन्दकुन्द-आचार्य सरीखे प्रतिपादक दिग्म्बर-आचार्यों ने स्त्रीजाति को शारीरिक और मानसिक-दोष के कारण दीक्षा तक के लिए अयोग्य ठहराया—

‘लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि ।

भणित्थो सुहमो काब्धो, तासं कह होइ पव्वज्जा ॥’

—षट्पाहुड-सूत्रपाहुड गा० २४-२५ ।

और वैदिक विद्वानों ने शारीरिक-शुद्धि को अप्र-स्थान देकर स्त्री और शूद्र-जाति को सामान्यतः वेदाध्ययन के लिए अनधिकारी बतलाया—

‘स्त्रीशूद्रौ नाधीयातां’

इन विपक्षी सम्प्रदायों का इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुष-जाति के समान स्त्रीजाति की योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर-आचार्य उसे विशेष-अध्ययन के लिए अयोग्य बतलाने लगे होंगे ।

ग्यारह अङ्ग आदि पढ़ने का अधिकार मानते हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्ग के निषेध का सबब यह भी जान पड़ता है कि दृष्टिवाद का व्यवहार में महत्त्व बना रहे । उस समय विशेषतया शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़ने में वेद आदि ग्रन्थों की महत्ता समझी जाती थी । दृष्टिवाद सब अङ्गों में प्रधान था, इसलिए व्यवहार-दृष्टि से उसकी महत्ता रखने के लिए अन्य बड़े पड़ोसी समाज का अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है । इस कारण पारमार्थिक-दृष्टि से स्त्री को संपूर्णतया योग्य मानते हुए भी आचार्यों ने व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक-अशुद्धि का खयाल कर उसको शाब्दिक-अध्ययनमात्र के लिए अयोग्य बतलाया होगा ।

भगवान् गौतमबुद्ध ने स्त्रीजाति को भिक्षुपद के लिए अयोग्य निर्द्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीर ने तो प्रथम से ही उसको पुरुष के समान भिक्षुपद की अधिकारिणी निश्चित किया था । इसी से जैनशासन में चतुर्विध संघ प्रथम से ही स्थापित है और साधु तथा श्रावकों की अपेक्षा साध्वियों तथा श्राविकाओं की संख्या आरम्भ से ही अधिक रही है परन्तु अपने प्रधान शिष्य ‘आनन्द’ के आग्रह से बुद्ध भगवान् ने जब स्त्रियों को भिक्षु पद दिया, तब उनकी संख्या धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ शताब्दियों के बाद अशिक्षा, कुप्रबन्ध आदि कई कारणों से उनमें बहुत-कुछ आचार-भ्रंश हुआ, जिससे कि बौद्ध-संघ एक तरह से दूषित

समझा जाने लगा। सम्भव है, इस परिस्थिति का जैन-सम्प्रदाय पर भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे दिग्म्बर-आचार्यों ने स्त्री को भिक्षुपद के लिए ही अयोग्य करार दिया हो और श्वेताम्बर-आचार्यों ने ऐसा न करके स्त्रीजाति का उच्च अधिकार कायम रखते हुए भी दुर्बलता, इन्द्रिय-चपलता आदि दोषों को उस जाति में विशेष रूप से दिखाया हो; क्योंकि सहचर-समाजों के व्यवहारों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

(१४) चक्षुर्दर्शन के साथ योग

चौथे कर्मग्रन्थ गा० २८ में चक्षुर्दर्शन में तेरह योग माने गए हैं, पर श्री मल्लयगिरिजी ने उसमें ग्यारह योग बतलाए हैं। कर्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये चार योग छोड़ दिए हैं।

—पञ्च० द्वा० १ की १२ वीं गाथा की टीका।

ग्यारह मानने का तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त-अवस्था में चक्षुर्दर्शन न होने से उसमें कर्मण और औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं होते, वैसे ही वैक्रियमिश्र या आहारकमिश्र-काय योग रहता है, तब तक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुर्दर्शन नहीं होता, इसलिए उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग भी न मानने चाहिए।

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि अपर्याप्त-अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद चौथे कर्मग्रन्थ की १७ वीं गाथा में उल्लिखित मातान्तर के अनुसार यदि चक्षुर्दर्शन मान लिया जाए तो उसमें औदारिकमिश्र काययोग, जो कि अपर्याप्त-अवस्थाभावी है, उसका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

इस शङ्का का समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चसंग्रह में एक ऐसा मातान्तर है जो कि अपर्याप्त-अवस्था में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न बन जाए तब तक मिश्रयोग मानता है, बन जाने के बाद नहीं मानता।—पञ्च० द्वा० १ की ७वीं गाथा की टीका। इस मत के अनुसार अपर्याप्त-अवस्था में जब चक्षुर्दर्शन होता है तब मिश्रयोग न होने के कारण चक्षुर्दर्शन में औदारिकमिश्र काययोग का वर्जन विरुद्ध नहीं है।

इस जगह मनःपर्याय ज्ञान में तेरह योग माने हुए हैं, जिनमें आहारक द्विक का समावेश है। पर गोम्भटसार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता; क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहार विशुद्ध चारित्र और मनःपर्यायज्ञान के समय आहारक-

शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय नहीं होता—कर्मकाण्ड गा० ३२४। जब तक आहारक-द्विकका उदय न हो, तब तक आहारक-शरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचना के सिधाय आहारकमिश्र और आहारक, ये दो योग असम्भव हैं। इससे सिद्ध है कि गोभट्टसार, मनःपर्यायज्ञान में दो आहारक योग नहीं मानता। इसी बात की पुष्टि जीवकाण्ड की ७२८ वीं गाथा से भी होती है। उसका मतलब इतना ही है कि मनःपर्यायज्ञान, परिहार विशुद्ध-संयम, प्रथमोपशमसम्भक्त्य और आहारक-द्विक, इन भावों में से किसी एक के प्राप्त होने पर शेष भाव प्राप्त नहीं होते।

(१५) 'केवलिसमुद्घात'

(क) पूर्वभावी क्रिया—केवलिसमुद्घात रचने के पहले एक विशेष क्रिया की जाती है, जो शुभयोग रूप है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिका में कर्म-दलिकों का निक्षेप करना है। इस क्रिया-विशेष को 'आयोजिकाकरण' कहते हैं। मोक्ष की ओर आवर्जित (मुके हुए) आत्मा के द्वारा किये जाने के कारण इसको 'आवर्जितकरण' कहते हैं। और सब केवलज्ञानियों के द्वारा अवश्य किये जाने के कारण इसको 'आवश्यककरण' भी कहते हैं। श्वेताम्बर-साहित्य में आयोजिकाकरण आदि तीनों संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं।—विशो० आ०, गा० ३०५०-५१; तथा पञ्च० द्वा० १, गा० १६ की टीका।

दिग्म्बर-साहित्य में सिर्फ 'आवर्जितकरण' संज्ञा प्रसिद्ध है। लक्षण भी उसमें स्पष्ट है—

'हेट्टा दंडस्सतोमुहुत्तमाव!ज्जदं हवे करणं ।

तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिण्णिदस्स ।'

—लब्धिसार, गा० ६१७।

(ख) केवलिसमुद्घात का प्रयोजन और विधान-समय—

जब वेदनीय आदि अघ्राति कर्म की स्थिति तथा दलिक, आयु कर्म की स्थिति तथा दलिक से अधिक हों तब उनको आपस में बराबर करने के लिए केवलिसमुद्घात करना पड़ता है। इसका विधान, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण आयु बाकी रहने के समय होता है।

(ग) स्वामी—केवलज्ञानी ही केवलिसमुद्घात को रचते हैं।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्घात का काल-मान आठ समय का है ।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समय में आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर फैला दिया जाता है । इस समय उनका आकार, दण्ड जैसा बनता है । आत्मप्रदेशों का यह दण्ड, ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक, अर्थात् चौदह रज्जु-परिमाण होता है, परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ शरीर के बराबर होती है । दूसरे समय में उक्त दण्ड को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलाकर उसका आकार, कपाट (किवाड़) जैसा बनाया जाता है । तीसरे समय में कपाटाकार आत्म-प्रदेशों को मन्थाकार बनाया जाता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, दोनों तरफ फैलाने से उनका आकार रई (मथनी) का सा बन जाता है । चौथे समय में विदिशाओं के खाली भागों को आत्म-प्रदेशों से पूर्ण करके उनसे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया जाता है ; पाचवें समय में आत्मा के लोक व्यापी प्रदेशों को संहरण-क्रिया द्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है । छठे समय में मन्थाकार से कपाटाकार बना लिया जाता है । सातवें समय में आत्म-प्रदेश फिर दण्ड रूप बनाए जाते हैं और आठवें समय में उनकी असली स्थिति में—शरीरस्थ-किया जाता है ।

(च) जैन-दृष्टि के अनुसार आत्म-व्यापकता की संगति—उपनिषद्, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में आत्मा की व्यापकता का वर्णन किया है ।

‘विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्स्यात् ।’

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३--३ ११—१५

‘सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ।’— भगवद्गीता, १३, १३ ।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह वर्णन अर्थवाद है, अर्थात् आत्मा की महत्ता व प्रशंसा का सूचक है । इस अर्थवाद का आधार केवलिसमुद्घात के चौथे समय में आत्मा का लोक-व्यापी बनना है । यही बात उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने शास्त्र-वार्त्तासमुच्चय के ३३८ वें पृष्ठ पर निर्दिष्ट की है ।

जैसे वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात-क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातञ्जल-योग दर्शन में ‘बहुकायनिर्माणक्रिया’ मानी है जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी, सोपक्रम कर्म शीघ्र भोगने के लिए करता है ।—पाद ३. सू० २२ का भाष्य तथा वृत्ति; पाद ४, सूत्र ४ का भाष्य तथा वृत्ति ।

(१६) 'काल'

'काल' के संबन्ध में जैन और वैदिक, दोनों दर्शनों में करीब ढाई हजार वर्ष पहले से दो पक्ष चले आते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथों में दोनों पक्ष वर्णित हैं। दिगम्बर-ग्रंथों में एक ही पक्ष नजर आता है।

(१) पहला पक्ष, काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। वह मानता है कि जीव और और अजीव-द्रव्य का पर्याय-प्रवाह ही 'काल' है। इस पक्ष के अनुसार जीवाजीव-द्रव्य का पर्याय-परिणमन ही उपचार से काल माना जाता है। इसलिए वस्तुतः जीव और अजीव को ही काल-द्रव्य समझना चाहिए। वह उनसे अलग तत्त्व नहीं है। यह पक्ष 'जीवाभिगम' आदि आगमों में है।

(२) दूसरा पक्ष काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। वह कहता है कि जैसे जीव-पुद्गल आदि स्वतन्त्र द्रव्य हैं; वैसे ही काल भी। इसलिए इस पक्ष के अनुसार काल को जीवादि के पर्याय-प्रवाहरूप न समझ कर जीवादि से भिन्न तत्त्व ही समझना चाहिए। यह पक्ष 'भगवती' आदि आगमों में है।

आगम के बाद के ग्रंथों में, जैसे—तत्त्वार्थ सूत्र में वाचक उमास्वाति ने, द्वात्रिंशिका में श्री सिद्धसेन दिवाकर ने, विशेषावश्यक-भाष्य में श्री जिनभद्रगणित्त्वमाश्रमण ने, धर्मसंग्रहणी में श्री हरिभद्रसूरि ने, योगशास्त्र में श्री हेमचन्द्रसूरि ने, द्रव्य-गुण पर्याय के रास में श्री उपाध्याय यशोविजयजी ने, लोकप्रकाश में श्री विनयविजयजी ने और नयचक्रसार तथा आगमसार में श्री देवचन्द्रजी ने आगम-गत उक्त दोनों पक्षों का उल्लेख किया है। दिगम्बर-संप्रदाय में सिर्फ दूसरे पक्ष का स्वीकार है, जो सबसे पहले श्री कुन्दाचार्य के ग्रंथों में मिलता है। इसके बाद पूज्यपादस्वामी, भट्टारक श्री अकलङ्कदेव, विद्यानन्दस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और बनारसीदास आदि ने भी उस एक ही पक्ष का उल्लेख किया है।

पहले पक्ष का तात्पर्य—

पहला पक्ष कहता है कि समय, आवलिका, सुहृत्, दिन-रात आदि जो व्यवहार, काल-साध्य बतलाए जाते हैं या नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ, काल-साध्य बतलाई जाती हैं, वे सब क्रिया-विशेष [पर्याय विशेष] के ही संकेत हैं। जैसे—जीव या अजीव का जो पर्याय, अविभाज्य है, अर्थात् बुद्धि से भी जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, उस आखिरी अतिसूक्ष्म पर्याय को 'समय' कहते हैं। ऐसे असंख्यात पर्यायों के पुञ्ज को 'आवलिका' कहते हैं। अनेक आवलिकाओं को 'मुहूर्त्त' और तीस

मुहूर्त्त को 'दिन-रात' कहते हैं। दो पर्यायों में से जो पहले हुआ हो, वह 'पुराण' और जो पीछे से हुआ हो, वह 'नवीन' कहलाता है। दो जीवधारियों में से जो पीछे से जन्मा हो, वह 'कनिष्ठ' और जो पहिले जन्मा हो, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है। इस प्रकार विचार करने से यही जान पड़ता है कि समय, आवलिका आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब अवस्थाएँ, विशेष-विशेष प्रकार के पर्यायों के ही अर्थात् निर्विभाग पर्याय और उनके छोटे-बड़े बुद्धि-कल्पित समूहों के ही संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के सिवाय ही हुआ करती है। अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्यायरूप में आप ही परिणत हुआ करते हैं। इसलिए वस्तुतः जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

दूसरे पक्ष का तात्पर्य—

जिस प्रकार जीव पुद्गल में गति-स्थिति करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य के लिए निमित्तकारणरूप से 'धर्म-अस्तिकाय' और 'अधर्म-अस्तिकाय' तत्त्व माने जाते हैं। इसी प्रकार जीव-अजीव में पर्याय-परिमाण का स्वभाव होने पर भी उसके लिए निमित्तकारणरूप से काल-द्रव्य मानना चाहिए। यदि निमित्तकारणरूप से काल न माना जाए तो धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय मानने में कोई युक्ति नहीं।

दूसरे पक्ष में मत-भेद—

काल को स्वतन्त्र द्रव्य माननेवालों में भी उसके स्वरूप के संबन्ध में दो मत हैं।

(१) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्रमें—ज्योतिष-चक्र के गति-क्षेत्र में—वर्तमान है। वह मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण होकर भी संपूर्ण लोक के परिवर्तनों का निमित्त बनता है। काल, अपना कार्य ज्योतिष-चक्र की गति की मदद से करता है। इसलिए मनुष्य-क्षेत्र से बाहर कालद्रव्य न मानकर उसे मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण ही मानना युक्त है। यह मत धर्मसंग्रहणी आदि श्वेताम्बर-ग्रंथों में है।

(२) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्र-वर्ती नहीं है; किन्तु लोक-व्यापी है। वह लोक व्यापी होकर भी धर्म-अस्तिकाय की तरह स्कन्ध नहीं है; किन्तु अणुरूप है। इसके अणुओं की संख्या लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है। वे अणु, गति-हीन होने से जहाँ के तहाँ अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित रहते हैं। इनका कोई स्कन्ध नहीं बनता। इस कारण इनमें तिर्यक्-प्रचय (स्कन्ध) होने की शक्ति नहीं है। इसी सबब से काल द्रव्य को अस्तिकाय में नहीं गिना है। तिर्यक्-प्रचय न होने पर भी ऊर्ध्व-प्रचय है। इससे प्रत्येक काल-

अणु में लगातार पर्याय हुआ करते हैं। ये ही पर्याय, 'समय' कहलाते हैं। एक-एक काल-अणु के अनन्त समय-पर्याय समझने चाहिए। समय-पर्याय ही अन्य द्रव्यों के पर्यायों का निमित्तकारण है। नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि सब अवस्थाएँ, काल-अणु के समय-प्रवाह की बंदौलत ही समझनी चाहिए। पुद्गल-परमाणु को लोक-आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से जाने में जितनी देर होती है, उतनी देर में काल-अणु का एक समय-पर्याय व्यक्त होता है। अर्थात् समय-पर्याय और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक की परमाणु की मन्द गति, इन दोनों का परिमाण बराबर है। यह 'मन्तव्य दिगम्बर-ग्रंथों में है।

वस्तु-स्थिति क्या है—

निश्चय दृष्टि से देखा जाए तो काल को अलग द्रव्य मानने की कोई जरूरत नहीं है। उसे जीवाजीव के पर्यायरूप मानने से ही सब कार्य व सब व्यवहार उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए यही पक्ष, तात्त्विक है। अन्य पक्ष, व्यावहारिक व औपचारिक हैं। काल को मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण मानने का पक्ष स्थूल लोक-व्यवहार पर निर्भर है। और उसे अणुरूप मानने का पक्ष, औपचारिक है, ऐसा स्वीकार न किया जाए तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य-क्षेत्र से बाहर भी नवत्व पुराणत्व आदि भाव होते हैं, तब फिर काल को मनुष्य-क्षेत्र में ही कैसे माना जा सकता है? दूसरे यह मानने में क्या युक्ति है कि काल, ज्योतिष-चक्र के संचार की अपेक्षा रखता है? यदि अपेक्षा रखता भी हो तो क्या वह लोकव्यापी होकर ज्योतिषचक्र के संचारक की मदद नहीं ले सकता? इसलिए उसको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण मानने की कल्पना, स्थूल लोक-व्यवहार पर निर्भर है—काल को अणुरूप मानने की कल्पना औपचारिक है। प्रत्येक पुद्गल-परमाणु को ही उपचार से कालाणु समझना चाहिए और कालाणु के अप्रदेशत्व के कथन की सङ्गति इसी तरह कर लेनी चाहिए।

ऐसा न मानकर कालाणु को स्वतन्त्र मानने में प्रश्न यह होता है कि यदि काल स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो फिर वह धर्म-अस्तिकाय की तरह स्कन्धरूप क्यों नहीं माना जाता है? इसके सिवाय एक यह भी प्रश्न है कि जीव-अजीव के पर्याय में तो निमित्तकारण समय-पर्याय है। पर समय पर्याय में निमित्तकारण क्या है? यदि वह स्वभाविक होने से अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता तो फिर जीव-अजीव के पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जाएँ? यदि समय-पर्याय के वास्ते अन्य निमित्त की कल्पना की जाएँ तो अनवस्था आती है। इसलिए अणुपक्ष को औपचारिक ही मानना ठीक है।

वैदिकदर्शन में काल का स्वरूप—

वैदिकदर्शनों में भी काल के संबन्ध में मुख्य दो पक्ष हैं। वैशेषिकदर्शन-अ० २, आ० २ सूत्र ६-१० तथा न्यायदर्शन, काल को सर्वव्यापी स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्य—अ० २, सूत्र १२, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन-काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति-पुरुष (जड़चेतन) का ही रूप मानते हैं। यह दूसरा पक्ष, निश्चय-दृष्टि-मूलक है और पहला पक्ष, व्यवहार-मूलक।

जैनदर्शन में जिसको 'समय' और दर्शनान्तरों में जिसको 'क्षण' कहा है, उसका स्वरूप जानने के लिए तथा 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वह केवल लौकिक-दृष्टिवालों की व्यवहार-निर्वाह के लिए क्षणानुक्रम के विषय में की हुई कल्पनामात्र है, इस बात को स्पष्ट समझने के लिए योगदर्शन, पा० ३ सू० ५२ का भाष्य देखना चाहिए। उक्त भाष्य में कालसंबन्धी जो विचार है, वही निश्चय-दृष्टि-मूलक, अतएव तात्त्विक जान पड़ता है।

विज्ञान की सम्मति—

आजकल विज्ञान की गति सत्य दिशा की ओर है। इसलिए कालसंबन्धी विचारों को उस दृष्टि के अनुसार भी देखना चाहिए। वैज्ञानिक लोग भी काल को दिशा की तरह काल्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं।

अतः सब तरह से विचार करने पर यही निश्चय होता है कि काल को अलग स्वतन्त्र द्रव्य मानने में दृढ़तर प्रमाण नहीं है।

(१७) 'मूल बन्ध-हेतु'

यह विषय, पञ्चसंग्रह द्वा० ४ की १६ और २०वीं गाथा में है, किन्तु उसके वर्णन में चौथे कर्मग्रंथ पृ० १७६ की अपेक्षा कुछ भेद है। उसमें सोलह प्रकृतियों के बन्ध को मिथ्यात्व-हेतुक, पैंतीस प्रकृतियों के बन्ध को अविरिति-हेतुक, अड़सठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक और सातवेदनीय के बन्ध को योग-हेतुक कहा है। यह कथन अन्वय-व्यतिरेक, उभय-मूलक कार्य-कारण-भाव को लेकर किया गया है। जैसे—मिथ्यात्व के सद्भाव में सोलह का बन्ध और उसके अभाव में सोलह के बन्ध का अभाव होता है; इसलिए सोलह के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक मिथ्यात्व के साथ घट सकता है। इसी प्रकार पैंतीस के बन्ध का अविरति के साथ, अड़सठ के बन्ध का कषाय के साथ और सातवेदनीय के बन्ध का योग के साथ अन्वय-व्यतिरेक समझना चाहिए।

परंतु चौथे कर्मग्रंथ में केवल अन्वय-मूलक कार्य-कारण-भाव को लेकर संबन्ध का

वर्णन किया है, व्यतिरेक की विवक्षा नहीं की है; इसी से यहाँ का वर्णन पञ्चसंग्रह के वर्णन से भिन्न मालूम पड़ता है। अन्वय—जैसे; मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय, कषाय के समय और योग के समय सातवेदनीय का बन्ध अवश्य होता है; इसी प्रकार मिथ्यात्व के समय सोलह का बन्ध, मिथ्यात्व के समय तथा अविरति के समय पैंतीस का बन्ध और मिथ्यात्व के समय, अविरति के समय तथा कषाय के समय शेष प्रकृतियों का बन्ध अवश्य होता है। इस अन्वयमात्र को लक्ष्य में रखकर श्री देवेन्द्र सूरि ने एक, सोलह, पैंतीस और अड़सठ के बन्ध को क्रमशः चतुर्हेतुक, एक-हेतुक, द्वि-हेतुक और त्रि-हेतुक कहा है। उक्त चारों बन्धों का व्यतिरेक तो पञ्चसंग्रह के वर्णनानुसार केवल एक-एक हेतु के साथ घट सकता है। पञ्चसंग्रह और यहाँ की वर्णन शैली में भेद है, तात्पर्य में नहीं।

तत्त्वार्थ-अ० ८ सू० १ में बन्ध के हेतु पाँच कहे हुए हैं, उसके अनुसार अ० ६ सू० १ की सर्वार्थसिद्धि में उत्तर प्रकृतियों के और बन्ध-हेतु के कार्य-कारण-भाव का विचार किया है। उसमें सोलह के बन्ध को मिथ्यात्व-हेतुक, उन्तालीस के बन्ध को अविरति-हेतुक, छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक, अद्वावन के बन्ध को कषायहेतुक और एक के बन्ध को योग-हेतुक बतलाया है। अविरति के अनंतानु-बन्धिकषाय-जन्य, अप्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, और प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य, ये तीन भेद किये हैं। प्रथम अविरति को पच्चीस के बन्ध का, दूसरी को दस के बन्ध का और तीसरी को चार के बन्ध का कारण दिखाकर कुल उन्तालीस के बन्ध को अविरति-हेतुक कहा है। पञ्चसंग्रह में जिन अड़सठ प्रकृतियों के बन्ध को कषाय-हेतुक माना है, उनमें से चार के बन्ध को प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य अविरति-हेतुक और छह के बन्ध को प्रमाद-हेतुक सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है; इसलिए उसमें कषाय-हेतुक बन्धवाली अद्वावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं।

(१८) उपशमक और क्षपक का चरित्र

गुणस्थानों में एक-जीवाश्रित भावों की संख्या जैसी चौथे कर्मग्रंथ गाथा ७० में है, वैसी ही पञ्चसंग्रह के द्वार २ की ६४वीं गाथा में है; परंतु उक्त गाथा की टीका और ट्वा में तथा पञ्चसंग्रह की उक्त गाथा की टीका में थोड़ा सा व्याख्या-भेद है।

टीका-ट्वा में 'उपशमक'-'उपशान्त' दो पदों से नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ, ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गए हैं और 'अपूर्व' पद से आठवाँ गुणस्थानमात्र।

नौवें आदि तीन गुणस्थान में उपशमश्रेणिवाले औपशमिकसम्यक्त्वी को या द्वायिकसम्यक्त्वी को चारित्र औपशमिक माना है। आठवें गुणस्थानों में औपशमिक या द्वायिक किसी सम्यक्त्ववाले को औपशमिक चारित्र इष्ट नहीं है, किन्तु द्वायोपशमिक। इसका प्रमाण गाथा में 'अपूर्व' शब्द का अलग ग्रहण करना है; क्योंकि यदि आठवें गुणस्थान में भी औपशमिकचारित्र इष्ट होता तो 'अपूर्व' शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्द से ही नौवें आदि गुणस्थान की तरह आठवें का भी सूचन किया जाता। नौवें और दसवें गुणस्थान के क्षपकश्रेणि-गत-जीव-संबन्धी भावों का व चारित्र का उल्लेख टीका या टवे में नहीं है।

पञ्चसंग्रह की टीका में श्री मलयगिरि ने 'उपशमक'-'उपशान्त' पद से आठवें से ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'ज्ञीण' पद से आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बाराहवाँ, ये क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं। उपशमश्रेणिवाले उक्त चारों गुणस्थान में उन्होंने औपशमिक चारित्र माना है, पर क्षपकश्रेणिवाले चारों गुणस्थान के चारित्र के संबन्ध में कुछ उल्लेख नहीं किया है।

ग्यारहवें गुणस्थान में संपूर्ण मोहनीय का उपशम हो जाने के कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र है, नौवें और दसवें गुणस्थान में औपशमिक-द्वायोपशमिक दो चारित्र हैं; क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय की कुछ प्रकृतियों उपशान्त होती हैं, सब नहीं। उपशान्त प्रकृतियों की अपेक्षा से औपशमिक और अनुपशान्त प्रकृतियों की अपेक्षा से द्वायोपशमिक-चारित्र समझना चाहिए। यह बात इस प्रकार स्पष्टता से नहीं कही गई है परन्तु पञ्च० द्वा० ३की २५वाँ गाथा की टीका देखने से इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं रहता क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपराय-चारित्र को, जो दसवें गुणस्थान में ही होता है, द्वायोपशमिक कहा है।

उपशमश्रेणिवाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय के उपशम का आरम्भ या कुछ प्रकृतियों का उपशम होने के कारण औपशमिक चारित्र, जैसे पञ्चसंग्रह टीका में माना गया है, वैसे ही क्षपकश्रेणिवाले आठवें आदि तीनों गुणस्थान में चारित्रमोहनीय के क्षय का आरम्भ या कुछ प्रकृतियों का क्षय होने के कारण द्वायिकचारित्र मानने में कोई विरोध नहीं दीख पड़ता।

गोमटसार में उपशमश्रेणिवाले आठवें आदि चारों गुणस्थान में चारित्र औपशमिक ही माना है और द्वायोपशमिक का स्पष्ट निषेध किया है। इसी तरह क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान में क्षायिक चारित्र ही मानकर द्वायोपशमिक का

निषेध किया है। यह बात कर्मकाण्ड की ८४५ और ८४६वों माथाओं के देखने से स्पष्ट हो जाती है।

(१६) 'भाव'

यह विचार एक जीव में किसी विवक्षित समय में पाए जानेवाले भावों का है।

एक जीव में भिन्न-भिन्न समय में पाए जानेवाले भाव और अनेक जीव में एक समय में या भिन्न-भिन्न समय में पाए जानेवाले भाव प्रसङ्ग-वश लिखे जाते हैं। पहले तीन गुणस्थानों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव, चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में पाँचों भाव, बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के सिवाय चार भाव और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में औपशमिक-क्षायोपशमिक के सिवाय तीन भाव होते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान, चक्षु आदि दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ, ये १०; तीसरे में तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ, ये १२; चौथे में तीसरे गुणस्थानवाले १२ किन्तु मिश्रदृष्टि के स्थान में सम्यक्त्व; पाँचवें में चौथे गुणस्थानवाले बारह तथा देशविरति, कुल १३; छठे, सातवें में उक्त तेरह में से देश-विरति को घटाकर उनमें सर्वविरति और मनःपर्यवज्ञान मिलाने से १४; आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानों में उक्त चौदह में से सम्यक्त्व के सिवाय शेष १३; ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में उक्त तेरह में से चारित्र को छोड़कर शेष १२ क्षायोपशमिक भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें में क्षायोपशमिकभाव नहीं है।

औदयिक—पहले गुणस्थान में अज्ञान आदि २१; दूसरे में मिथ्यात्व के सिवाय २०; तीसरे-चौथे में अज्ञान को छोड़ १६; पाँचवें में देवगति, नारकगति के सिवाय उक्त उन्नीस में से शेष १७, छठे में तिर्यञ्चगति और असंयम घटाकर १५; सातवें में कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को छोड़कर उक्त पन्द्रह में से शेष १२; आठवें-नौवें में तेजः और पद्म-लेश्या के सिवाय १०; दसवें में क्रोध, मान, माया और तीन वेद के सिवाय उक्त दस में से शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में संज्वलनलोभ को छोड़ शेष ३ और चौदहवें गुणस्थान में शुक्ललेश्या के सिवाय तीन में से मनुष्यगति और असिद्धत्व, ये दो औदयिकभाव हैं।

ध्यायिक—पहले तीन गुणस्थानों में ध्यायिकभाव नहीं है। चौथे से ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानों में सम्यक्त्व, बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र्य दो और तेरहवें-चौदहवें दो गुणस्थानों में नौ ध्यायिकभाव हैं।

औपशमिक—पहले तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानों में औपशमिकभाव नहीं है। चौथे से आठवें तक पाँच गुणस्थानों में सम्यक्त्व, नौवें से ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानों में सम्यक्त्व और चारित्र्य, ये दो औपशमिकभाव हैं।

पारिणामिक—पहले गुणस्थान में जीवत्व आदि तीनों; दूसरे से बारहवें तक ग्यारह गुणस्थानों में जीवत्व, भव्यत्व दो और तेरहवें-चौदहवें में जीवत्व ही पारिणामिकभाव है। भव्यत्व अनादि-सान्त है। क्योंकि सिद्ध-अवस्था में उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्म क्षय होने के बाद सिद्ध-अवस्था प्राप्त होने में बहुत विलंब नहीं लगता, इस अपेक्षा से तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में भव्यत्व पूर्वाचार्यों ने नहीं माना है।

गोमटसार-कर्मकाण्ड की ८२० से ८७५ तक की गाथाओं में स्थान-गत तथा पद-गत भङ्ग-द्वारा भावों का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

एक-जीवाश्रित भावों के उत्तर भेद—

ज्ञायोपशमिक—पहले दो गुणस्थान में मत्ति-श्रुत दो या विभङ्गसहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ; तीसरे में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ; चौथे में दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त-अवस्था में अचक्षु एक या अवधिसहित दो दर्शन, और पर्याप्त-अवस्था में दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ, पाँचवें में दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पाँच लब्धियाँ; छठे-सातवें में दो तीन या मनःपर्यायपर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र्य, पाँच लब्धियाँ; आठवें, नौवें और दसवें में सम्यक्त्व को छोड़ छठे और सातवें गुणस्थानवाले सब ज्ञायोपशमिक भाव। ग्यारहवें-बारहवें में चारित्र्य को छोड़ दसवें गुणस्थान वाले सब भाव।

औदयिक—पहले गुणस्थान में अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, एक लेश्या, एक कषाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व; दूसरे में मिथ्यात्व को छोड़ पहले गुणस्थान वाले सब औदयिक; तीसरे, चौथे और पाँचवें में अज्ञान को छोड़ दूसरे वाले सब; छठे से लेकर नौवें तक में असंयम के सिवाय पाँचवें वाले सब; दसवें में वेद के सिवाय नौवें वाले सब; ग्यारहवें-बारहवें में कषाय के सिवाय

दसवें वाले सभ; तेरहवें में असिद्धत्व, लेश्या और गति; चौदहवें में गति और असिद्धत्व ।

ज्ञायिक—चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक में सम्यक्त्व, बारहवें में सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें-चौदहवें में—नौ ज्ञायिक भाव ।

औपशामिक—चौथे से आठवें तक सम्यक्त्व; नौवें से ग्यारहवें तक सम्यक्त्व और चारित्र ।

पारिणामिक—पहले में तीनों; दूसरे से बारहवें तक में जीवत्व और भव्यत्व दो; तेरहवें और चौदहवें में एक जीवत्व ।

ई० १९२२]

[चौथा कर्मग्रन्थ